[मुरली मनोहर]

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ६२

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

प्रथम संस्करण १००० } फरवरी १९७२ फाल्गुन सं०–२०२८ { मूल्य १.६५

मुद्रक—बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग

विषय-सूची

संस्मरण

[११]

(न्याय और दण्ड)

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्म सूत्रैर्ग्रथितो हि लोकः ॥*

(अ० रा०)

छप्पय

जो जैसो कछु देइ अन्य जन्मनि सो पावै ।
अपनो ही जो भात बैठि दूसर घर खावै ॥
शत्रु मित्र नहिँ कोइ भाग्य जस तस बनि जावैं ।
सगे शत्रु बनि जाइँ अन्य प्रिय सुख पहुँचावैं ॥
हानि-लाभ, जय-पराजय, सुख दुख, जीवन मर-अमर ।
सबहिँ भाग्यवश मिलत हैं, व्यरथ करत अभिमान नर ॥

---

* कोई किसी को न सुख देता है, न दुख । दूसरो ने हमे यह सुख अथवा दुख दिया यह कुबुद्धि है । मैं करने वाला हूँ, यह व्यर्थ का अभिमान है, वास्तव मे तो यह सम्पूर्ण ससार स्वकर्म सूत्र मे आबद्ध है । जैसा करोगे वैसा भरोगे ।

वास्तव में जीव पूर्वजन्म कृत कर्मों के कारण दैव या प्रारब्ध के वशीभूत होकर अपने को कर्ता मानकर–विवश होकर–कर्म कर रहा है और दुःख-सुख भोग रहा है। दुःख का कारण क्या है? अहंता ममता और अपने में कर्तृत्व अभिमान। मैं यह हूँ, वह हूँ, ऐसा हूँ, वैसा हूँ। यह वस्तु मेरी है, इसे दूसरा कैसे लेता है। मैं ऐसा कर सकता हूँ, मैं यदि ऐसा करता, तो ऐसा न होता, या मैं यह करता, तो ऐसा हो जाता। बस, इन्हीं कारणों से जीव अपने को दुखी अनुभव करता है, शोकमग्न, दुखी, चिंतित बना रहता है।

यदि यह निश्चय कर ले कि आयु, कर्म, धन, विद्या और जीवन-मरण ये सब भाग्यवश होते हैं, जन्म से पूर्व ही प्रारब्ध कर्मों का निर्माण हो जाता है जो हमारी प्रारब्ध में होगा, वह हमें अवश्य ही प्राप्त हो जायगा, उसे ब्रह्मा भी नहीं बदल सकते। जो हमें न प्राप्त होना होगा, वह लाख प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये जिस वस्तु पर तुम्हारा मन चले और वह तुम्हें प्राप्त न हो, तो दुखी मत होओ। सोच लो, यह हमारे भाग्य में थी ही नहीं। कोई वस्तु बिना प्रयत्न के तुम्हें अकस्मात् प्राप्त हो जाय, तो विस्मित भी मत होवो कि हमने इसके लिये प्रयत्न तो किया ही नहीं था, यह हमें कैसे प्राप्त हो गयी? सोचो—"यह तो मुझे प्राप्त होनी ही थी, तो कैसे प्राप्त न होती। तुमने किसी की प्राप्ति के लिये शक्तिभर प्रयत्न किया, फिर भी वह तुम्हें प्राप्त न हो सकी, तो सोच मत करो, चिंतित न हो, दुःख न करो। सोचो–यह मेरे प्रारब्ध में ही नहीं थी। फिर प्राप्त कैसे होती। इस प्रकार जो सुख-दुःख में, लाभ-अलाभ में, जय-पराजय में, प्राप्त-अप्राप्त में सम रहता है, वही ज्ञानी है उसने ही प्रारब्ध के रहस्य को समझा है।"

आप ही सोचो, किसी का हमने कुछ भी बिगाड़ा नहीं है, फिर भी वह हमसे शत्रुता करता है। इसके विपरीत जिनसे जान-पहिचान नहीं, नमस्कार प्रणाम नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं फिर भी वह हमारे लिये प्राण देने को तत्पर है, तो इसमें प्रारब्ध के अतिरिक्त दूसरा कौन-सा कारण हो सकता है। शत्रु मित्र कोई उपजते थोड़े ही हैं। एक व्यक्ति कुछ लोगों का मित्र है, कुछ का वही शत्रु हो जाता है। माता के उदर से उत्पन्न होकर-अपना सगा भाई-शत्रु हो जाता है। इसके विपरीत भिन्न देश के, भिन्न जाति सम्प्रादाय के लोग मित्र बन जाते है। यह प्रारब्ध ही का तो खेल है। देखिये, रावण का सगा भाई शत्रु के आक्रमण के समय रावण को छोड़कर चला गया, शत्रु सेना से मिल गया। इसके विपरीत श्रीरामचन्द्रजी की माता कैकेयी उनके वनवास का कारण हुई। जिन रीछ वानरों से कोई सम्बन्ध नहीं था, वे श्रीरामचन्द्र के सहायक बन गये। उन्होंने राम काज के लिये प्राणों का पण लगा दिया। इसीलिये भीष्म पितामह ने बड़े ही दुःख के साथ कहा था—"लोग कहते हैं धर्म न करने से लोग दुःख पाते हैं हमारे युधिष्ठिर तो साक्षात् धर्म के अवतार ही हैं, वे कभी धर्म के विरुद्ध आचरण नहीं करते, फिर भी दुःख भोग रहे हैं। बहुत से लोग कहते हैं, जिसके सहायक बलवान् होते हैं वे दुःख नहीं उठाते सुखी रहते हैं। युधिष्ठिर के भाई सभी बलवान् हैं, उनकी आज्ञा में चलने वाले है। भीम गदा लेकर युद्ध में खड़े हो जायें तो यमराज भी उन्हें जीत नहीं सकते। फिर भी भीम के रहते हुए भी पांडव सुखी कहाँ हैं, दुःख के ऊपर दुःख उन्हें प्राप्त हो रहा है। कुछ लोग कहते हैं—जो साधनहीन हैं वे ही दुःख झेलते हैं। पांडवों के पास सभी साधन हैं। संसार में किसी के भी पास न होने वाला अद्वितीय गांडीव धनुष और उसके चलाने वाले वीर

अर्जुन हैं, इतने सुन्दर साधनों के रहते हुए भी पांडवों पर विपत्ति के ऊपर विपत्तियाँ आती रहीं हैं।"

बहुत से कहते हैं—"जिनके अच्छे मित्र नहीं होते वे दुखी होते हैं। तो पांडवों के अभिन्न मित्र तो साक्षात् परमब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण ही हैं। ऐसे मित्र के रहते हुए भी बेचारे विपत्तियों के भार को लादे वन-वन अनाथों की भाँति घूमते रहे हैं। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँते हैं, कि ये सब भाग्यवश दैव के अधीन ही सुख-दुःख होते रहते हैं। लोकपालों के सहित संपूर्ण संसार दैवाधीन है। औरों की बात जाने दो, जो भगवान् कालातीत हैं, कर्म बन्धनों से रहित हैं, अनादि अनन्त हैं, जन्म मृत्यु से परे हैं, वे भी लीला के ही लिये सही—धर्म संस्थापना के ही निमित्त मान लो—भृगु के शापवश दश बार अवतार लेते हैं। वृन्दा के शाप से पाषाण होते हैं, इन सबसे यही सिद्ध होता है सब कुछ भाग्य से ही मिलता है। पूर्वजन्म कृत कर्म संचित कर्मों में संचित होते रहते हैं। एक जन्म के भोगने को जो प्रारब्ध कर्म मिलते हैं जीव विवश होकर वैसे ही कर्मों को करने को उद्यत हो जाता है। भवितव्यता के अनुसार ही बुद्धि बन जाती है। मनुष्य इच्छा न रहने पर भी भाग्यवश उन कामों में प्रवृत्त हो जाता है। अतः प्रारब्ध कर्मों के रहस्य को जानने वाले सुख-दुख को सम समझते हैं, सुख में फूल कर कुप्पा नहीं होते, दुःख में आँसू नहीं बहाते। अपकार करने वाले पर क्रोध नहीं करते, उपकार करने वाले की लल्लो चप्पो नहीं करते। आज्ञा मानने वाले के प्रति मोह नहीं करते, न आज्ञा मानने वाले से द्वेष नहीं करते, सर्वत्र दैव का हाथ देखते हैं। वे कभी दुखी नहीं होते। वे समस्त कार्यों को ईश्वरकृत मानते हुए चुपचाप अनासक्त भाव से तटस्थ होकर प्रारब्ध को लीला को—सुखान्त नाटक की भाँति हँसते हुए देखते रहते हैं।"

हमारे अनेक जन्म हो चुके हैं। उनके अनेकों माता पिता, सगे-सम्बन्धी तथा शत्रु मित्र हो चुके हैं। वे सब भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेकर उपकार करके अपना ऋण चुकाते रहते हैं। इसीलिये भगवान् का नाम मृत्यु भी है और दुःख देने वाला भी है। सुख-दुख दोनों को भगवान् की देन समझे दोनों में प्रभु का दर्शन करे तो उसके लिये संसार मे सुख ही सुख है, दुःख का लेश भी नहीं। जो लोग सबको मित्र के चक्षु से देखते हैं, सब उसके साथ मैत्री भाव रखते हैं।

माता कौशल्या जब श्रीराम के लिये दुखी होने लगी–कि मेरे सुकुमार बच्चे को वन मे भोजन कौन देगा, तब वसिष्ठजी ने कहा था—"माँ! जिसके लिये इतने प्राणी सौहार्द्र भाव जता रहे हैं, रो रहे हैं जो इतने लोगों का प्रिय है, क्या वन के खग, मृग, वृक्ष उसकी सहायता न करेंगे ? शत्रु मित्र सर्वत्र मिल जाते हैं। वे खोजने नहीं पड़ते। जीवन में पग-पग पर इसका सभी को अनुभव होता है, किन्तु यह प्राणी भूल जाता है। किये हुए का स्मरण नहीं करता। संस्मरणों को स्मरण नहीं करता। नाटक देखने तुम बनावटी नाट्यशाला मे क्यों जाते हो। यह जगत् ही नाट्यशाला है, इसमें निरन्तर नाटक ही तो होते रहते हैं। बनावटी नाट्यशालाओं में तो इन जगत् के नाटकों का अनुकरण–अभिनय–होता है। यथार्थ नाटक तो जगत् है, प्रत्येक घटना नाटक ही तो है।

अपने जीवन में मैं अनेको बार जेल गया। अनेकों न्याय-कर्ताओं, अधिकारियों तथा कर्मचारियों से काम पडा। मेरे साथ तो सभी ने अत्यन्त मैत्री भाव शिष्टाचार का वर्ताव मुझसे उनका कोई परिचय नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं, कोई मन नहीं, किन्तु सभी का व्यवहार परम आत्मीय

भाँति रहा। जितनी जेलों में गया, वहाँ के सभी अधिकारियों का व्यवहार इतना मैत्री पूर्ण रहा कि मुझे आश्चर्य होता था। अभी तक एक भी न्यायकर्ता या जेल के किसी भी अधिकारी का मुझे स्मरण नहीं आता जिसने कभी भी मेरे साथ अशिष्ट व्यवहार किया हो। न्यायकर्ता न्यायाधीशों ने मेरी अशिष्टता की ओर ध्यान न देकर भी मेरे साथ सदा शिष्ट व्यवहार किया। उनमें कई तो विधर्मी विदेशी थे। जीवन में बड़े-बड़े अद्भुत-अद्भुत अनुभव हुए। बड़े-बड़े नाटक देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। बुलन्दशहर कारावास में जाने के पूर्व मैंने न्याय स्थान–जिसे कच–हरी–बालों तक को हरण करने वाली–कहते हैं। मैंने देखी नहीं थी। मैं संस्कृत का विद्यार्थी मुझे कच–हरी देखने की–वहाँ जाने की–आवश्यकता ही क्या थी। भोजन और पढ़ाई की चिन्ता के अतिरिक्त किसी से प्रयोजन ही नहीं। अब जब नेतागिरी का भूत सिर पर चढ़ा, तो सब कुछ देखना पड़ा।

जीवन में पहिले ही पहिले न्याय स्थल–कच–हरी–में गया। सो भी अभियुक्त बनकर। अभियुक्त भी ऐसा कि जिसका न्याय-कर्ता अधिवक्ता और सम्पूर्ण जनता हृदय से सम्मान करे। राज–चर–पुलिस वाले–जिसे सम्मान के साथ ले जायें। न्यायकर्ता जिसे बैठने को पीठ–कुरसी–दे।

मैं पहिले ही बता चुका, कि मेरे परगने का अधिकारी मेरा बड़ा सम्मान करता था, वह मुझे पकड़ना ही नहीं चाहता था, किन्तु मैं पकड़वाने को तुरा रहा था–अन्त में परम विवश होकर उसने मुझे पकड़ा। वह भी अपराध में नहीं सन्देह में–१०८ धारा सन्देह की है, उसमें साक्ष्य द्रव्य (जमानत) वैयक्तिक विश्वास वचन (मुचलका) ही लिये जाते हैं। आप पर सन्देह है आप ऐसा काम कर सकते हैं, अतः इतने दिनों तक किसी योग्य आदमी से

विश्वास दिला दो ऐसा न करेंगे, या तुम स्वय वचन दो "कि इतनी अवधि तक हम ऐसा न करेंगे।" यदि मैं पकडे जाने के पूर्व ही ऐसा वचन दे देता तो मुझे कारावास आना ही न पडता। किन्तु मैं तो कारावास आने को उधार खाये बैठा था। भगवान से प्रति क्षण यही मनाता रहा था, कि श्यामसुन्दर जहाँ तुमने जन्म लिया उस अपनी जन्म भूमि में मुझे ले चलो। सो भगवान् ने मेरी ऐसी इच्छा पूर्ति की कि एक दो नहीं १४, १५ कारावास दिखा दिये। जिस मथुरा के कारावास में श्यामसुन्दर ने जन्म लिया था, उस मथुरा कारावास में भी रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। वह भी विदेशी शासन में नहीं। अपने ही शासन में, अपने ही स्वबन्धुओं के राज्य मे।

हाँ, तो मेरा अभियोग न्यायलय में आरम्भ हुआ उस दिन साक्षी देने न्यायालय में जिला के सर्वोच्चराधिकारी (पुलिस सुपरिटेन्डेंट) आने वाले थे वे अँगरेज थे। उन दिनों अँगरेजों का अत्यन्त प्रभाव था। अँगरेज अधिकारी के नाम से ही सब काँपने लगते थे। सैकडों सिपाही गणवेश में लाल-लाल पगडियाँ बाँधे सब मार्गों मे सुरक्षार्थ खडे थे। अब ऐसा सुरक्षा प्रबन्ध राज्यपालों के आने पर होता है मैं उन सिपाहियों के इतने समूह को देखकर आश्चर्य चकित रह गया। न्यायालय में न्यायकर्ता ने बडे आदर से मुझे बैठने को पाठ (कुरसी) दी। दर्शकों की पर्याप्त भीड़ थी। पुलिस अधिकारी आये। न्यायकर्ता ने उठकर उससे हाथ मिलाया। अपने समीप बैठने को आसन दिया।

मैं समाचार पत्रों मे पढा करता था। न्यायालय में प्रमुख नेता ने ऐसा प्रभावशाली भाषण दिया, कि सब लोग स्तब्ध रह गये। मैंने भी उनका अनुकरण किया। अपनी बुद्धि के अनुसार पुलिस अधिकारी को तथा न्यायायकर्ता को सुनाते हुए

तड़क-भड़क से जैसे मंच पर भाषण देते हैं, वैसे भाषण दिया। दोनों मेरे भाषण को चुपचाप सुनते रहे। अन्त में हँसकर न्यायकर्ता ने कहा—"आपके सैकड़ों भाषणों की प्रतियाँ तो हमारे पास पुलिस ने भेज ही दी हैं। उन सब को हमने पढ़ा है। आपको और कुछ कहना है ?"

मैंने कहा—"मुझे और कुछ भी नहीं कहना है।"

पुलिस अधिकारी ने अपना नाम, पद, कार्य बताकर खड़े होकर साक्षी दी। मेरे भाषणों की स्थान-स्थान की प्रतियाँ न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत की उनमें जो आपत्तिजनक अंश थे, उन्हें बताया।

सब सुनकर न्यायकर्ता ने कहा—"आप इतने रुपये का साक्ष्य और इतने का वैयक्तिक वचन दें तो अभी छोड़ दिये जायँगे।"

मेरे मना करने पर उसने अन्यमनस्कभाव से ६ महीने का बिना परिश्रम का—सादा—कारावास दण्ड सुना दिया। दण्डित होकर मैं पुनः कारावास में लौट आया।

उन न्यायकर्ता की सज्जनता, सौम्यता सरलता की मेरे हृदय पर बड़ी छाप लगी। उनका नाम स्यात् बाबू राजनारायणजी था। पीछे मैंने सुना मेरा अभियोग करके उन्होंने उसी समय सरकारी नौकरी से त्याग पत्र दे दिया और राजा अवागढ़ के यहाँ दानाध्यक्ष की नौकरी कर ली। उन दिनों अवागढ़ राज्य के दानाध्यक्ष को उतना ही वेतन मिलता था जितना परगनाधिकारी पाते थे। कितना सज्जनतापूर्ण था उनका व्यवहार।

❀ ❀ ❀ ❀

अब मैं विचाराधीन बन्दी नहीं रह गया। अब तो नियमानुसार अपराधी बन्दी था। बुलन्दशहर जेल वाले मुझे रख नहीं

सकते थे। उन दिनों राजनैतिक बन्दियो के लिये बरेली, आगरा, लखनऊ, काशी और साकेत (फैजाबाद) ये ही कारावास निश्चत थे। अतः मुझे बरेली जेल भेजा गया। रात्रि मे चुपचाप तीन चार सिपाहियों के साथ मुझे रेल से भेजा गया। कारावास-पाल (जेलर) ने मार्ग मे भोजनादि को मेरे लिये तीन रुपये स्यात् अपने पास से दिये। मैं प्रातःकाल बरेली जेल मे पहुँचा दिया गया।

असहयोग आन्दोलन के पूर्व जेलो मे बन्दियो की कोई श्रेणियाँ नहीं थीं। कैसा भी बन्दी क्यो न हो, पढ़ा लिखा, लखपती, करोडपति, चोर, डाकू, लुटैरे, गठकटे सब एक ही श्रेणी में रखे जाते थे। भले आदमी कोई जानबूझकर जेलो मे जाते ही नहीं थे। सब चोर जार अपराधी ही जाते थे। हाँ योरोपियनो के लिये पृथक् प्रबन्ध था वह योरोपियनशाला (वार्ड) कहलाता था। अब उच्चश्रेणी के प्रतिष्ठित पढ़े लिखे लोक विख्यात व्यक्ति स्वेच्छा से कारावासो को भरने लगे। वे भी साधारण अभियोगों में नहीं—राजनेतिक अभियोगों मे—तो सरकार ने शीघ्रता मे तीन श्रेणियाँ बना दीं। एक विशिष्ट श्रेणी (स्पेशल क्लास) जिसमे उच्च श्रेणी के सम्मानित, शिक्षित व्यक्ति रखे जाते। दूसरी राजनेतिक श्रेणी (पोलिटिकल प्रिजनर्स) जिसमे मध्यम श्रेणी के शिक्षित वर्ग के राजनेतिक कार्यकर्ता रखे जाते थे। तीसरे अराजनैतिक श्रेणी (नॉन पोलिटिकल प्रिजनर्स) अर्थात् जो राजनैतिक काम मे पकड़े जाने पर भी सरकार जिन्हें राजनैतिक नहीं मानती थी। वे सर्वसाधारण कैदियों के समान सर्वसाधारण बन्दियों के साथ रखे जाते थे। पहिले तो तीनों श्रेणियों के बन्दी सभी जेलों में रखे जाते थे। फिर विशिष्ट श्रेणी वालों के लिये बरेली, काशी, आगरा और लखनऊ ये चार कारावास निश्चित

हुए द्वितीय श्रेणी के भी इनमें पृथक् रखे जाते थे। अन्त में तीनों जेलों से हटाकर विशिष्ट श्रेणी के बन्दी केवल लखनऊ में और द्वितीय श्रेणी के केवल फैजाबाद में रखे गये। शीघ्रता में आयोग नियुक्त हुआ। उस आयोग के सदस्यों ने बिना किसी नियम के जिन्हें योग्य सुशिक्षित, प्रतिष्ठित व्यक्ति देखा उसे विशिष्ट श्रेणी में रख दिया। मध्यम श्रेणी का जिसे समझा उसे राजनैतिक श्रेणी में रख दिया।

मैं जब बरेली पहुँचा तो उस समय विशेष श्रेणी में १०–१५ ही व्यक्ति थे। ज्वालापुर महाविद्यालय के उपकुलपति पं० नरदेव जी शास्त्री, अलमोड़ा की शक्ति के सम्पादक पं० बदरीदत्तजी पांडेय, लखनऊ के पं० हरिकरण जी मिश्र, खुरजा के स्वामी योगानन्द जी, बुलन्दशहर के अतरसिंह जी, सिकंदराबाद के विश्वशर्मा, अवध के किसान नेता बाबा रामचन्द्र जी, अलमोड़ा के पं० केदारदत्तजी पंत आदि-आदि इनमें प्रायः सभी अपने परिचित ही थे। इन लोगों को विशिष्ट श्रेणी में रखा गया। मुझे राजनैतिक श्रेणी में। मैं अपने को बहुत बड़ा नेता लगाता था। मुझे द्वितीय श्रेणी में रखा गया। इससे मेरे आत्मसम्मान को ठेस लगी। आते ही मैंने आन्दोलन करने की ठानी। हमारे साथ अलमोड़े के २०-२५ आदमी थे। ये सब जंगलात सत्याग्रह में पकड़े गये थे। इनमें पं० केदारदत्तजी पंत भी थे उन्हें विशिष्ट श्रेणी मिली थी, किन्तु वे उसका परित्याग करके हम राजनैतिक द्वितीय श्रेणी वालों के साथ ही रहते थे। विशिष्ट श्रेणी वालों को १॥) रुपया नित्य नकद मिलता था। उस समय के १॥) आज के १५–२० रुपयों के बराबर होंगे। द्वितीय श्रेणी वालों का भी भोजन पृथक् बनता था। उनसे कोई काम नहीं लिया जाता था, अपने वस्त्र पहिन सकते थे। विशिष्ट श्रेणी में कुछ लोग इस पत्त

मे थे, कि राजनैतिक वन्दियों मे भेदभाव नही होना चाहिये, सब को एक ही श्रेणी मे रहना चाहिये। कुछ सुन्दर सुविधाओं को देखकर, १।।) नित्य के लोभ से कहते– "भाई, हम किसी से श्रेणी माँगने तो गये नही हम तो वन्दी हैं। सरकार हमें जैसे रखेगी, जहाँ रखेगी वहीँ रहना पड़ेगा।" ऐसी तर्क देकर वे विशिष्ट श्रेणी मे रहना चाहते थे।

हम लोगो को उन्हे सुखदपीठ (आरामकुरसियो) पर वैठा देखकर, फल फूल, मेवा मिठाई खाते देखकर ईर्ष्या होती। उन्हें रायवहादुर आदि अपमानजनक शब्दो से सम्बोधित करते। यह जीव कितना स्वार्थी है। जो वस्तु उसे प्राप्त नहीं होती दूसरों पर उसे देखकर ईर्ष्या करता है। उसमे नाना अवगुण देखता है, उसकी निन्दा करता है। जब स्वय उसे वह प्राप्त हो जाती है, तो प्रकारान्तर से उसकी प्रशसा करने लगता है। अपनी विवशताओं को वताकर उसका समर्थन करने लगता है। जिस विशिष्ट श्रेणी का मैं निन्दा करता था, वही जव मुझे प्राप्त हो गयी, तो मै फिर उन्ही मे घुल मिल गया, फिर में उसका प्रवल समर्थक बन गया।

वहाँ के कारागाराधिकारी (जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट) एक कर्नल लैम्स्ले नामक अँगरेज व्यक्ति थे। विशिष्ट श्रेणी वालो के साथ उनका व्यवहार बहुत सौहार्द्रपूर्ण तथा भद्रतापूर्ण था। वैसे वे सज्जन व्यक्ति थे, किन्तु मुझे तो कुछ न कुछ उपद्रव करना था 'आ जेल मुझे मार' मैं पहुँचा था उसी दिन या उसके दूसरे दिन माघ शुक्ला वसतपञ्चमी (स० १९७८) थी। विशिष्ट श्रेणी में वसंत पचमी का त्योहार बडी धूम धाम से मनाया गया। प० नरदेव शास्त्री ने वासंती हवन वेद मत्रों से कराया। मीठे केसरिया चावल बने, बडा उत्साह रहा।

जेल मे भोजन बनाने की भट्टियाँ होती हैं। उनमें बहुत बड़ी-

बड़ी लोहे की चद्दरें जड़ी रहती हैं, उन्हें तवा कह लीजिये। उनमें एक साथ ५०-१८० रोटी सिक जाती हैं। रोटी ऊपर ही परामठों की भाँति सिकती है कुछ कच्ची भी रह जाती होगी। बड़े बड़े बेलनों से बहुत लम्बी बेल दी जाती है फिर एक चलनी जैसे साँचे से गोल-गोल काटकर तवे पर ही सेकी जाती हैं। सर्व-साधारण बन्दी उन रोटियों को बड़े प्रेम से खाते हैं। भूख में किवाड़ भी पापड़ का स्वाद देती हैं। मैंने रात्रि में सबसे सम्मति की कि ऊपर तवे पर सिकी रोटी कच्ची रहती हैं, हमारे लिये पृथक् घई में सिकी रोटी बननी चाहिये। जब तक ऐसी रोटियों का प्रबन्ध न हो, तब तक कोई रोटी न ले उपवास करें।"

वहाँ के सभी लोग उस भोजन से असन्तुष्ट थे, किन्तु अग्रणी कौन बने-बिल्ली का मुख कौन पकड़े-जब मैंने दृढ़ता दिखायी तो सभी सहमत हो गये। दूसरे दिन भोजन आया। एक ने भी नहीं लिया। अब तो कारावास में बड़ी हलचल मच गयी। भोजन न लेना कारावास में सबसे बड़ा आन्दोलन है और सबसे बड़ा वहाँ का अपराध है। हमें समझाने विशिष्ट श्रेणी के लोग आये। हमने सरकारी पिट्ठू-रायबहादुर-कहकर उनकी बात नहीं मानी। पूरा दिन बीत गया। दूसरे दिन कारावासाधिकारी आया। उसने मुझसे पूछा—"तुम क्या चाहटा है ?"

मैंने कहा—"तवे पर सिकी रोटी कच्ची रोटी रहती है, हमें घई में सिकी रोटी चाहिये।"

तवे से उतारकर जो नीचे चूल्हे में कोयलों या अंगारों पर रोटी सेकी जाती है, जिससे वह फूल जाती है, उसे घई कहते हैं। उस अँगरेज ने समझा ये घी में सिकी रोटी चाहते हैं।

उसने कहा—"घी यहाँ नहीं मिलटा। तैल दाल में डाला जाता है।"

मैंने कहा—"हम घी नहीं मॉगते। चूल्हे के नीचे सिकी रोटियाँ चाहते हैं।"

तब किसी भारतीय कर्मचारी ने अँगरेजी में उसे सब कुछ समझाया। वह अच्छा कहकर चला गया। मेरी आचार पत्रिका (हिस्ट्री टिकट) मॅगायी गयी। उस पर लिख दिया गया भयावह बन्दी (डेन्जरेस प्रिजनर) खतरनाक कैदी-और तुरन्त मुझे फेजाबाद कारावास के लिये भेज दिया गया। बरेली कारावास में मैं दो या तीन दिन ही रहा।

फैजाबाद का कारावास विशेषरूप से राजनैनिक बन्दियों के लिये ही अतिरिक्त कराया गया था। उसके कारावासाधिकारी रायबहादुर मिट्ठन लाल जी बनाये गये थे। वे पहिले चुनार की बाल अपराधिनी जेल के अधिकारी थे। सरकार के शुभ चिन्तकों में माने जाते थे तभी तो रायबहादुरी की उपाधि प्राप्त हुई। बड़े चालू मधुर भाषी-सूझ बूझ के व्यक्ति थे। मेरी आचार पत्रिका-देखकर बोले—"आपने बरेली में कोई उपद्रव कराया था ?"

मैंने कहा—"नहीं, तो ? सिकी रोटिया की मॉग की थी।"

राय बहादुर बोले—"अच्छा, अच्छा कृपा करके यहॉ कोई ऐसा उपद्रव न करावें। आप जो कहेंगे हम वही करेंगे। आपको कोई कष्ट न होने पावेगा।"

वहॉ पूरे कारावास में स्वतन्त्रता थी। वार्डों में वद नहीं होना पडता। पूरे कारावास मे कहीं जाओ किसी से मिलो, जो चाहें सो करो। भोजनालय में भी हमारे ही आदमी जाते, जैसा चाहते भोजन बनाते। राय बहादुर जी सबसे हँस-हँसकर आत्मीय जनों की भाँति बातें करते। वहाँ कारावास-सा लगता ही नहीं

था। प्रायः सभी पढ़े-लिखे सुशिक्षित थे। स्वामी सहजानन्द जी गीता पर प्रवचन करते। तिलक महाराज के गीतारहस्य की कक्षायें लगतीं। सभायें होतीं कवि-सम्मेलन होते, हुड़दंगे और उपद्रव लड़ाई झगड़े भी होते।

हिन्दु मुसलिम एकता सिद्ध करने सब एक ही पत्तल पर रोटियाँ रखकर गोलाकर बैठकर खाते। मैं इसका विरोध करता, कि 'उच्छिष्ट खाना निषेध है।' वे कहते "उच्छिष्ट तो उसे कहते हैं जो मुँह में खाकर उगला जाय। एक पत्तल पर रोटियाँ रक्खी हैं। दाल सबकी अपनी-अपनी कटोरियों में है हम सब एक में से उठा-उठाकर खाते हैं उच्छिष्ट कहाँ हुआ ?"

मैं कहता—"जूठे हाथों से तो उठाते हो।"

वे कहते—"हाथ जूठे नहीं होते, मुख जूठा होता है।" किन्तु मैं उनकी बातों से सहमत न होता। मैं तो अपना भोजन सबसे पहिले पृथक् ले आता, अपने स्थान पर स्वच्छता से बैठकर अकेले ही पाता। इससे कुछ लोग मुझ पर छूआछूत मानने का दोष लगाते। कुछ ने मेरी बात का समर्थन किया और वे भी पृथक् भोजन लगाकर पृथक् बैठकर पाने लगे।

मानव स्वभाव से गम्भीर नहीं होता। किसी विशिष्ट व्यक्ति की बात पृथक् है। वैसे सर्वसाधारण लोग कुछ समय ही गंभीर रह सकते हैं। नहीं तो उन्हें वाद-विवाद, उछल-कूद, छेड़-छाड़-कहा-सुनी, मैत्री-शत्रुता सभी की आवश्यकता होती है। कुछ लोग कबड्डी खेलते, कुछ उपद्रव करते, कुछ को जब तक लड़ाई झगड़ा चहल पहल न हो आनन्द ही नहीं आता। भाँति-भाँति की माँगे उपस्थित करके अधिकारियों को विवश करते। वाद-विवाद होते। कटुता उत्पन्न होती। कारावास के अधिकारी अत्यन्त ही नम्रता का वर्ताव करते सबकी बातें सह लेते। अब

वे इतनी अधिक स्वतन्त्रता के पक्षपाती नहीं रहे। कारावास के नियमों का पालन कराने की इच्छा से कुछ-कुछ कडाई करने को उद्यत हुए। इस पर नित्य ही चखचख होती।

इसी बीच मे सरकार ने पुनः एक आयोग की स्थापना की। उसका कार्य इस बात को निर्णय करने का था, कि कुछ अयोग्य व्यक्ति विशिष्ट श्रेणी मे पहुँच गये हैं, उन्हें वहाँ से प्रथम श्रेणी स निकालकर द्वितीय अथवा तृतीय श्रेणी मे भेज दिया जाय। कुछ योग्य व्यक्ति भूल से द्वितीय तृतीय श्रेणी में चले गये हैं। उन्हे वहाँ से हटाकर प्रथम श्रेणी मे लखनऊ भेजा जाय। जिस जनपद का वन्दी हो उस जनपद के जिलाधीश से पूछा जाय यह किस श्रेणी के योग्य है।"

यह तो केवल कहने मात्र को था। वास्तविक बात यह थी कि विशिष्ट श्रेणी के लोग बहुत हो गये थे। उनकी संख्या सरकार अधिकाधिक घटाना चहती थी। बहुत विशिष्ट व्यक्तियो को ही विशिष्ट श्रेणी मे रखना चाहती थी। जिलाधीश जिससे चिड़े थे वह चाहे कितना विशिष्ट, प्रतिष्ठित व्यक्ति हो, उसे वे दूसरी या तीसरी श्रेणी मे भेज देने को लिख देते। वह तुरन्त दूसरी श्रेणी राजनैतिक अथवा तीसरी श्रेणी का अराजनैतिक-साधारण बन्दी बनाकर अन्य जनपदीय जेलो मे भेज दिया जाता। इस प्रकार लखनऊ जेल से बहुत से विशिष्ट श्रेणी के वन्दी दूसरी या तीसरी श्रेणियों मे पृथक्-पृथक् जेलों मे भेजे जाने लगे।

अब एक दो को नीची श्रेणियो मे से भी ऊपर की श्रेणी मे भेजा जाना चाहिये। उनमें सर्व प्रथम मेरा नाम आया। सहसा एक दिन जेलपाल आया और बडे आदर से बोला—"आप विशिष्ट श्रेणी में लखनऊ भेजे जायँगे। उसके मन में यह बात बैठ गयी–ये कोई बहुत ही बड़े आदमी हैं। पूरी जेल मे यह

फैल गयी। मुझे मन ही मन प्रसन्नता हुई। कुछ लोगों ने इस ढङ्ग से पूछा—"जाओगे ?"

मैंने नम्रता से उत्तर दिया—"भाई, सरकारी बन्दी हैं, सरकार जहाँ भेजेगी जाना पड़ेगा।"

मनुष्य कितना स्वार्थपरायण है, जिसका मैं कल तक राय-बहादुरी कहकर तिरस्कार करता था, आज उसी श्रेणी में प्रसन्नता पूर्वक जाने को उत्सुक हो रहा हूँ। मुझमें ऐसी क्या विशेषता सरकार ने देखी जो द्वितीय श्रेणी से प्रथम में भेजा गया। पीछे अन्वेषण करने पर पता चला। हमारे जिले के जिलाधीश जो भरे न्यायालय में हमारे साथी श्री महावीर त्यागी में थप्पड़ लगवाया था, जिसका समाचार पत्रों में बड़ा प्रतिवाद हुआ। महात्मा गाँधी जी ने भी अपने समाचारपत्र में इसके विरोध में दो-तीन लेख लिखे। इसी का पीछे उस अँगरेज जिलाधीश को पश्चात्ताप हुआ। उसी के प्रायश्चित्त स्वरूप मुझ साधारण व्यक्ति को विशिष्ट श्रेणी में भेजने का आग्रह किया। मैंने पीछे सुना बुलन्दशहर जिले के विधायक बाबू नानकचंदजी ने विधान सभा में यह प्रश्न भी पूछा था—"ब्रह्मचारी प्रभुदत्त जी में ऐसी कौन-सी विशेषता है, कि उन्हें द्वितीय श्रेणी से प्रथम श्रेणी में भेजा गया ?"

तो सुनते हैं, हमारे यहाँ के जिलाधीश ने यही लिखकर भेजा कि पूरे जनपद में उनका इतना भारी प्रभाव है, कि उनकी एक उँगली के संकेत पर जिले भर के लोग सब कुछ करने को उद्यत हो जाते हैं। दूसरी बात यह है कि वे ब्राह्मण हैं।"

अँगरेज लोग ब्राह्मणों का हृदय से आदर करते थे। आज धर्म निरपेक्षवाद असम्प्रदायवाद, वर्गवाद और जातिवाद की विरोधिनी कही जाने वाली सरकार में जितनी हेय दृष्टि से ब्राह्मण देखे जाते हैं, उतने स्यात् ही और कोई देखे जाते हों।"

अस्तु, फैजाबाद जेल से हम लखनऊ जेल में होली से ८-६ दिन पूर्व फाल्गुन शुक्ला छटि या सप्तमी स १९७८ (४-३-२२ ई०) को आ गये। वहाँ अपने बरेली जेल के तथा अन्यान्य जेलों के सभी परिचित बन्धु मिल गये। जीवन में इतना सुन्दर सर्वाङ्गीण समागम-सब प्रकार के अनुभवों का अद्भुत अवसर फिर स्यात् कभी नहीं मिला। अब तो नियमित स्थान समाप्त हो गया। अगले ससमरण की अगले खड तक प्रतीक्षा करें।

छप्पय

यह जग अनुपम ग्रन्थ खुले पन्ना सब दिशि में।
नव नव अनुभव होइँ विचारे यदि नर चित में॥
नर नारी नित नये नई निज कथा सुनावें।
पाप-पुण्य, सुख-दु ख-निरय सब सीख सिखावें॥
जगत ग्रन्थ अद्भुत अमित, अपनी अपनी सब बकें।
सब सुनि सार निकारिके, बनें विज्ञ जे पढि सकें॥

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर प्रयाग
चैत्र कृष्ण ७-२०२८ वि०

प्रभुदत्त

सत्यकाम की कथा द्वारा सत्य की महिमा

(१५६)

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे।
ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किं गोत्रोन्वहमस्मीति ॥*

(छां० उ० ४ प्र० ४ ख० १ मं०)

छप्पय

सत्यकाम जाबाल चले गुरुकुल पढ़िबे जब।
माँ तैं पूछ्यो गोत्र दयो उत्तर माँ ने तब॥
हौं परिचारिनि रही तोइ जायो यौवन महँ।
पिता गोत्र अज्ञात नाम तव सत्यकाम तहँ॥
सत्यकाम गुरु ढिंग गयो, बात सत्य सब कह दई।
सुनि प्रसन्न गुरु अति भये, विप्र सरिस तव मति रही॥

माता और पिता एक वर्ण से पृथक् पृथक् गोत्रों में उत्पन्न हुए हों, उनसे जो सन्तान उत्पन्न होगी, वह पिता के वर्ण तथा गोत्र की मानी जायगी। प्राचीन काल में जब इस देश में सम्पूर्ण

---

* जबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता के समीप जाकर उससे शिष्टाचार के साथ पूछा—"पूजनीया माताजी! मैं ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके गुरुकुल में आचार्य की सन्निधि में निवास करना चाहता हूँ। वहाँ गुरु मुझसे मेरा गोत्र पूछेंगे, अतः मुझे बताओ मैं किस गोत्र वाला हूँ।"

समाज में वेद स्मृतियों के अनुसार वर्णाश्रम धर्म चालू था, तब ब्राह्मण चारों वर्णों की, क्षत्रिय तीन वर्णों की, वैश्य दो वर्ण की, और शूद्र एक वर्ण की कई पत्नियाँ रख सकते थे। रखनी ही चाहिये। यह नियम नहीं था, जो अपनी एक ही धर्मपत्नी से सन्तुष्ट रह सके, यह सर्वोत्तम पक्ष था, क्योंकि धर्मपत्नी तो एक ही होती है, जो अपने ही वर्ण की शुद्ध सदाचारिणी कुलीना हो। यज्ञादि धर्म कार्य उसी के साथ सम्पन्न होते थे, शेष जो पत्नियाँ होती थीं, वे धर्मपत्नी न होकर भोग पत्नी कहलाती थी। अपनी धर्मपत्नी में उत्पन्न हुई सन्तानों के अतिरिक्त अन्य वर्ण की पत्नियों में जो सन्तानें होंगी, वे माता के वर्ण की मानी जाती थीं। जैसे ब्राह्मण से क्षत्रिय जाति की पत्नी से जो सन्तान होगी वह क्षत्रिय, वैश्य वर्ण की पत्नी से वैश्य, और शूद्र वर्ण की से शूद्र। कहीं-कहीं उन्हें माता से उच्च और पिता से नीच वर्ण का भी माना गया है। जैसे ब्राह्मण से क्षत्रिय वर्ण की पत्नी में जो सन्तान होगी वे 'मूर्धाभिषिक्त' कहलावेंगे। उपब्राह्मण। इन पत्नियों के अतिरिक्त कुछ दासियाँ–परिचारिणी–भी होती थीं। वे पत्नी के साथ दहेज में सेवा के निमित्त मिलती थीं। उनका विधिवत किसी से विवाह नहीं होता था। सामान्य रूप से वे जिसे दहेज में मिली हैं, उसी की एक प्रकार से भोगपत्नी–दासी–मानी जाती थीं। वे स्वतन्त्र होती थीं, अन्यों से भी उनके संतानें उत्पन्न हुआ करती थीं। इन सब की गणना दासों में की जाती थी। यह नियम मनुष्यों के लिये थे।

ऋषिगण इस नियम में नहीं आते थे, ऋषिगण अमोघ वीर्य, सत्य संकल्प माने जाते थे। वे किसी भी वर्ण की स्त्री में सन्तान उत्पन्न करें यहाँ तक कि उनका अमोघ वीर्य किसी भी प्रकार पक्षियों के भी पेट में पहुँच जाय, वहाँ से ऋषि ही उत्पन्न

विभांडक मुनि का रेत जल के साथ मृगी के उदर में चला गया, उससे शृङ्गी ऋषि हुए। दाश कन्या से महर्षि पराशर के वीर्य से भगवान् वेदव्यास हुए। हाँ, यदि ऋषि दूसरे के क्षेत्र में उसी के निमित्त वीर्य दान करे तो ऋषि के वीर्य से होने पर भी वह स्त्री के पति के ही वर्ण का माना जायगा। जैसे सुदास की पत्नी मदयन्ती में भगवान् वसिष्ठ द्वारा राजा के ही निमित्त वीर्य दान दिया गया, उनसे जो पुत्र हुए वे क्षत्रिय महाराज अश्मक हुए। महाराज पांडु की तीन पत्नियाँ थीं। दो तो क्षत्रिय वर्ण की थी, एक सूद्र वर्ण की। भगवान् वेदव्यास ने उन्हीं की वंश वृद्धि के निमित्त अपनी जननी के अत्यन्त आग्रह पर तीनों में गर्भाधान किया, क्षत्रिय वर्ण की पत्नियों में तो धृतराष्ट्र और पांडु क्षत्रिय हुए, शूद्रा के गर्भ से विदुर जी शूद्र माने गये। वीर्य एक था, अमोघ ऋषि वीर्य था, किन्तु दूसरों के निमित्त दान दिया गया। अतः माता के वर्ण के माने गये। इसी प्रकार अंध-तमा महर्षि ने अंगदेश के राजा की पत्नियों में उन्हीं के संकल्प से जो संन्तानें उत्पन्न कीं, वे राजा के ही वर्ण के पुत्र माने गये। अपने संकल्प से जो शूद्रा में पुत्र उत्पन्न किये वे सबके सब ऋषि हुए। ऋषिगण सर्व सामर्थ्यवान माने गये हैं। उनकी पत्नियाँ प्रायः राजपुत्री होती थीं, किन्तु उनकी संतानें सब ऋषि तथा ब्राह्मण ही होते थे। उनके लिये क्षेत्र का नियम लागू नहीं था। उनका वीर्य ही प्रधान माना जाता था। वैसे ब्राह्मण के शम दम, शौच, तप, ऋजुता, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिकता ये ९ गुण बताये हैं। कहीं १०, कहीं १२ भी कहे हैं, किन्तु ब्राह्मण के दो मुख्य गुण हैं सत्य और क्षमा। सत्यवादी होने से तथा क्षमाशील होने से ही ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। जिनमें ये दो गुण न हों, वे नाम मात्र के ही–केवल जन्मना–ब्राह्मण हैं।

और दूसरे वर्ण वालों में भी ये दो गुण पूर्ण रूप से हों, तो वे ब्राह्मणवत ही माने जायेंगे। सत्य, क्षमा और निर्भीकता के कारण ही ब्राह्मणों का ब्राह्मणत्व है और तप तो उनका मुख्य धन ही है इसीलिये ब्राह्मण तपोधन कहलाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वाक, नेत्र, श्रोत्र, मन और प्राण रूप से अध्यात्म और अग्नि सूर्य, चन्द्र, जल और वायु रूप से आधिदैविक रूप में सम्पूर्ण जगत् को कारण रूप से एक मानकर अब तक दशविध संवर्ग उपासना कही गयी। अब उसी के पुनः सोलह विभाग करके चतुष्पाद रूप में उपासना को बताने के लिये-पहिले सत्य का, तप का महत्व बताने के लिये-सत्यकाम जाबाल की कथा कही जाती है।"

एक जबाला नाम की परिचारिणी थी। वह ब्राह्मण के यहाँ परिचारिका रही होगी। उसके एक पुत्र हुआ, उसका नाम उसने सत्यकाम रखा। सत्यकाम बड़ा हुआ। किन्तु जिनके यहाँ वह परिचारिणी थी, उन्होंने सत्यकाम का उपनयन संस्कार नहीं कराया। सत्यकाम की उत्कट अभिलाषा थी, मैं गुरुकुल में वास करके ब्रह्मविद्या प्राप्त करूँ। उन दिनों उसके निकट गौतम गोत्रीय महर्षि हरिद्रुमान के पुत्र हारिद्रुमत वह विख्यात आचार्य थे। उन्हीं के आश्रम में जाकर अध्ययन करने की उसकी इच्छा हुई। किन्तु वहाँ जाते ही सर्वप्रथम आचार्य मुझसे मेरा गोत्र पूछेंगे। अतः मैं उन्हें अपना गोत्र क्या बताऊँगा। मेरे पिता तो हैं नहीं, जिनसे पूछ लेता। माताजी हैं, उन्हीं से चल कर अपना गोत्र पूछूँ।

यह सोचकर वह अपनी माताजी के पास गया और विनीत भाव से उसने कहा—"पूजनीया माताजी! मैं आप से एक पूछना चाहता हूँ।"

बड़े प्यार दुलार के साथ बच्चे को गोद में बिठाकर माता ने कहा—"पूछो, बेटा ! क्या बात है ? क्या पूछना चाहते हो ?"

सत्यकाम ने कहा—"माँ ! मैं पूछना यह चाहता हूँ, कि हमारा गोत्र क्या है ?"

माता ने कहा—"क्यों क्या बात है, गोत्र पूछने की तुम्हें आज आवश्यकता क्यों पड़ी ?"

सत्यकाम ने कहा—"माँ ! मेरी इच्छा आचार्य चरणों के समीप में गुरुकुल वास करके ब्रह्मविद्या प्राप्ति की है। वहाँ जाते ही आचार्य मुझसे मेरा गोत्र पूछेंगे, उन्हें मैं क्या उत्तर दूँगा, इसीलिये पूछ रहा हूँ।"

अपने पुत्र का ब्रह्मविद्या का सत्संकल्प जानकर माता को परम प्रसन्नता हुई। उसने लजाते हुए कहा—"बेटा ! तेरे पिता किस गोत्र के थे, इसका पता तो मुझे भी नहीं है।"

सत्यकाम ने पूछा—"माँ ! तुम्हें पता क्यों नहीं है ?"

जबाला ने कहा—"देखो, बेटा ! सत्य बात तो यह है कि मैं परिचारिणी थी। उस समय मेरी यौवनावस्था थी, उसी समय तुम्हारा जन्म हुआ। इसीलिये मैं यह नहीं जानती तुम किस गोत्र के हो। मैं केवल इतना ही जानती हूँ, कि मेरा नाम तो जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम रखा गया था। अतः तू अपने नाम के ही अनुरूप आचार्य को उत्तर देना। कह देना— मैं सत्यकाम नाम वाला जाबाल हूँ।"

माता का यह उत्तर सुनकर सत्यकाम अपनी माता के समीप से सीधा गौतम गोत्रीय महर्षि हरिद्रुमान के पुत्र आचार्य हारिद्रुमत के समीप पहुँचा। वहाँ जाकर उसने आचार्य चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनके सम्मुख जाकर खड़ा हो गया।

आचार्य ने विनयावनत बालक को समीप ही खड़ा देखकर उससे पूछा—"वत्स! तुम कौन हो? क्या चाहते हो? मेरे समीप किस अभिप्राय से आये हो?"

हाथ जोड़े हुए मधुर वाणी में सत्यकाम ने कहा—"भगवन्! मेरी इच्छा यहाँ आपके श्री चरणों की सन्निधि में ब्रह्मचर्यव्रत धारण पूर्वक निवास करने का है, श्रीमान् मुझे स्वीकार करेंगे तो मैं यहाँ निवास करूँगा, इसी अभिलाषा को लेकर श्री चरणों की सन्निधि में आया हूँ।"

बच्चे की सुशीलता, नम्रता तथा विनय से प्रभावित होकर आचार्य ने कहा—"बड़ी अच्छी बात है, तुम्हारा स्वागत है। तुम बड़े सौम्य जान पड़ते हो, अच्छा बच्चा बताओ तो सही, तुम्हारा गोत्र क्या है?"

बालक सत्यकाम ने जो भी अपनी माता से सुना था, बिना सकोच के सभी के सम्मुख स्पष्ट शब्दों में कहना आरम्भ किया, वह बोला—"भगवन्! मुझे अपने गोत्र का पता नहीं।"

आचार्य ने आश्चर्य से पूछा—'क्यों तुम्हें अपने गोत्र का भी पता नहीं! तुमने अपने पिता से अपना गोत्र तक नहीं पूछा?"

सत्यकाम ने कहा—"भगवन्! मेरे पिता नहीं हैं।"

आचार्य ने पूछा—"पिता नहीं है, तो घर में कोई तो होगा? तुम्हारे घर में कौन कौन है?"

सत्यकाम ने कहा—"भगवन्! मेरी केवल एक माताजी ही हैं।"

आचार्य ने कहा—"तो तुमने अपनी माता से अपना गोत्र नहीं पूछा?"

सत्यकाम ने कहा—"हाँ, माताजी से तो पूछा था।"

इस पर आचार्य ने पुनः पूछा—"तुम्हारी माता ने फिर क्या बताया ?"

सत्यकाम ने कहा—"मेरे पूछने पर उसने यह उत्तर दिया कि पहिले मैं बहुतों की परिचर्या किया करती थी। परिचारिका ही थी। उस समय मेरी यौवनावस्था थी तभी मैंने तुझे प्राप्त किया। इसीलिये मैं यह नहीं जानती, कि तुम किस गोत्र वाले हो। केवल मैं तो इतना ही जानती हूँ, कि मेरा नाम जवाला है तेरा नाम सत्यकाम है।" अतः गुरुदेव ! आप यही समझें कि मैं सत्यकाम जाबाल हूँ।

यह सुनकर आचार्य अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। सबके सम्मुख बिना किसी संकोच के कटु-सत्य को स्पष्ट रूप से प्रकट करने वाला यह कोई परिचारिका का साधारण बालक नहीं। आचार्य गद्‌गद हो गये और प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"वत्स ! ऐसा कटु-सत्य-ऐसा स्पष्ट भाषण ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई कर ही नहीं सकता। गोत्र न ज्ञात हो, तो इससे क्या हुआ, निश्चय ही तुम ब्राह्मण हो। तुम ब्रह्मविद्या के अधिकारी हो, शीघ्रता के साथ समिधा ले आओ। सौम्य ! मैं तुम्हारा उपनयन संस्कार कर दूँगा। तुमने यथावत् सत्य का पालन किया है, किसी भी अंश में सत्य का परित्याग नहीं किया है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह कहकर आचार्य उसका उपनयन कराने-गायत्री मन्त्र की दीक्षा देने को उपस्थित हो गये। सत्यकाम समिधा लाकर समित्पाणि ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय आचार्य के सम्मुख समुपस्थित हुआ। आचार्य ने उसका सविधि उपनयन संस्कार कराया। उसे गायत्री मन्त्र की दीक्षा दी। यज्ञोपवीत धारण कराया।

संस्कार हो जाने के अनन्तर विनयावनत शिष्य ने अंजलि

बाँधे हुए गुरुदेव से निवेदन किया—"गुरुदेव ! मेरे लिये कौन-सी सेवा सोंपी जाती है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! उन दिनों लेखनी कर्गल पट्टिकाओं से कक्षा लगाकर, बहुत से ग्रन्थों द्वारा शिक्षा नहीं दी जाती थी। शिक्षा का मुख्य अङ्ग सेवा ही माना जाता था। गुरु सुश्रुषा-आचार्य सेवा-म निष्णात हो गया-वह ब्रह्मविद्या का अधिकारी माना जाता था। आचार्य ऐस सामर्थ्यवान होते थे, कि ऐसे सेवापरायण तपस्या निरत सत्पात्र शिष्य को किसी के भी द्वारा क्षण भर में उपदेश करा देते थे। गुरु सुश्रुषा ब्रह्म प्राप्ति का प्रथम सोपान था। आचार्यगण सेवा कराते कराते हँसते खेलते बात की बात में ब्रह्मज्ञान करा देते थे। इसीलिये सत्यकाम ने सेवा के सम्बन्ध मे जिज्ञासा की। आचार्य ने उसकी सच्ची लगन और निष्ठा की परीक्षा लेने के निमित्त, अपनी गोशाला की गौओं में से जो बहुत ही दुर्बल दुर्बल गौएँ थीं ऐसी ४०० अत्यन्त कृशकाय गौएँ छाँटकर पृथक् कीं और उन्हें सत्यकाम को सौंपते हुए कहा—"साम्य ! तुम इन गौओं के पाछे पीछे जाओ। इन्हें चराकर हृष्ट पुष्ट बनाकर तब लौटना।"

सत्यकाम न इस अपना अहोभाग्य माना उसने कहा—"भगवन् ! मैं इन गौओं को चराने के लिये ऐसे सुन्दर सघन बन में जाऊँगा, जहाँ यथेष्ट घास हो, स्वच्छ सुन्दर जल का सुपास हो, इनकी सेवा करता हुआ मैं वन मे तब तक निवास करूँगा, जब तक इन चार सौ की एक सहस्र गौएँ न हो जायँ, जब तक इनकी सख्या एक सहस्र न होगी तब तक मैं आश्रम में लौटकर नहीं आऊँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! सत्यकाम का ऐसा निश्चय सुनकर आचार्य को परम प्रसन्नता हुई, उन्होंने से आशीर्वाद दिया। गुरुदेव की अनुमति पाकर

पद्मों में प्रणाम करके, गौओं के साथ सत्यकाम वन की ओर चल दिया। उन दिनों यथेष्ट गोचर भूमियाँ पड़ी हुई थीं। जिनमें बारहों महीने घास रहती थी और जल का सुपास रहता था। सत्यकाम ऐसे ही सुन्दर सघन किसी वन में चला गया। वह दिन भर गौओं को चराता था, उन्हें जल पिलाता था। सायंकाल को किसी पेड़ के नीचे गौओं को खड़ा करके रात्रि में उनकी देख-रेख रखता था, कि कोई हिंसक पशु आकर उन्हें कष्ट न पहुँचावे। इस प्रकार वह गोव्रत रूपी तपस्या करता हुआ वन में गौओं के साथ रहने लगा। गौओं के साथ एक बलवान् साँड़ भी था। सत्यकाम गो सेवा में ऐसा तल्लीन हो गया था, कि उसे गौओं के गिनने का अवसर ही नहीं मिलता था, कि अब गौएँ कितनी हो गयीं हैं। वह तो रात्रि दिन गौओं की सेवा सुश्रूषा में ही लगा रहता। उसे पता ही न चलता कब भगवान भुवन भास्कर उदयाचल से उदय होकर लोकों को प्रकाशित करने लगे और कब अस्ताचल की ओर प्रस्थान करके अंधकार को फैला गये। उसे केवल गौओं की सेवा रूपी तप से ही प्रयोजन था। किन्तु गौएँ अब तक सहस्र हो गयीं। अब इस बात की सूचना जैसे धर्मरूपी वृषभ देगा और उसे चतुष्पाद ब्रह्म के एक पाद का ज्ञान प्राप्त होगा, इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय–*निश्चय तू है विप्र करूँ उपनयन अबहिँ तब।*
'गो सेवा करि सौम्य' हरषि बटु स्वीकारी जब॥
दईं चार सौ धेनु अधिक कृश–करी प्रतिज्ञा।
होवैं गो जब सहस तबहिँ लौटूँ दें आज्ञा॥
गुरु आज्ञा तैं धेनु लै, तृन जलयुत वन में गयो।
गो सेवा-व्रत तप कर्यो, भईं सहस प्रमुदित भयो॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
चतुर्थ खण्ड समाप्त।

सत्यकाम को ब्रह्म के एक पाद का वृषभ द्वारा उपदेश

(१५७)

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्र ँ स्मः प्रापय न आचार्य कुलम् ॥*

(छा० उ० ४ अ० ५ ख० १ म०)

छप्पय

'सत्यकाम ! सुनु' कही वृषभ ने मानुष वानी ।
धेनु सहस है गयीं तुमनि अबतक नहि जानी ॥
आचारज कुल चलो, ब्रह्म इक पाद बताऊँ ।
'भगवन् देहँ बताइँ' कहे बटु-पुनि पहुँचाऊँ ॥
वृषभ कहे-दिक् चारि हैं, पूरब पच्छिम दक्खिनहु ।
उत्तर कला प्रसिद्ध ये, पाद प्रकाशक प्रथम लहु ॥

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है। भगवान धर्म स्वरूप हैं। धर्म के अतिरिक्त भगवान् को पाने का अन्य कोई उपाय नहीं। धर्म

---

* कालान्तर में सहस्र गौएं हो जाने पर वृषभ-सांड ने मानुषी वाणी में कहा— 'सत्यकाम !' सत्यकाम ने उत्तर दिया— 'हां, भगवन्' तब वृषभ बोला—"सौम्य ! हम सब अब सहस्र वाले हो गये हैं। अब तुम हमें आचार्य कुल में प्राप्त करा दो। अर्थात् वहां पहुँचा दो।"

ही जगत् को धारण किये हुए है धर्म को वृषभ-सर्वश्रेष्ठ-माना गया है। वृषभ के चार पैर होते हैं। इसलिये ब्रह्म को भी चतुष्पाद कहा गया है। तीन पाद तो इस विश्व ब्रह्माण्ड के बाहर हैं, केवल एक पाद में-एक अंश में-यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है। जो जगत् रूप में ब्रह्म की उपासना करता है, वह ब्रह्माण्ड से परे त्रिपाद विभूति का अधिकारी होता है।

यह जगत् रूप में ब्रह्म भी चार भागों में विभक्त है। पहिला भाग प्रकाश है, दूसरा अन्तरहित अनन्त है, तीसरा ज्योति स्वरूप है, और चौथा वह निवास है-आयतन-घर है जहाँ बैठकर ब्रह्म को प्राप्त किया जाता है। कहने को ज्योति और प्रकाश एक ही हैं। वास्तव में ज्योति स्थिर रहती है, उस ज्योति में से जो किरणें निकलकर फैलती हैं उसी का नाम प्रकाश है। इसलिये आधिदैविक उपासना के अनुसार चार देवों की साथ ही उपासना करनी चाहिये। धर्मरूप में परब्रह्म की, अग्नि रूप में परब्रह्म की, वायुरूप में और जल रूप में। जल से सम्बन्ध होने से जल प्राण ही है। धर्म नारायण के अवतार हैं, अग्नि ज्योति स्वरूप ब्रह्म है। वायु सबको अपने में धारण करने वाला ब्रह्म है और जल तो नारायण का स्वरूप ही है। जल ही नारायण का आयतन-अयन-है। तपस्या रूप से धर्म की-यज्ञरूप से अग्नि की, वायु रूप में प्राण की और ब्रह्मचर्य रूप में जल की उपासना करनी चाहिये। इन चारों की उपासना से चतुष्कल ब्रह्म का ज्ञान होता है। उपदेश तो तप, अग्निहोत्र, प्राणायाम और ब्रह्मचर्य के प्रभाव से देवता ही करते हैं, किन्तु यही उपदेश सत्य है, उसकी छाप आचार्य लगाते हैं। इसलिये आचार्य द्वारा सुनी विद्या ही सफल समझी जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जबाला का पुत्र सत्यकाम गौओं के साथ वन में रह कर तपस्या करने लगा। वह ब्रह्मचर्यव्रत

धारण करते हुए नित्य तपस्या, अग्निहोत्र, प्राणायाम तथा देवता, ऋषि और पितरों का जल से तर्पण किया करता था। इससे उस पर धर्म, अग्नि, वायु तथा जल ये चारों प्रसन्न हो गये। चारों ने ब्रह्म के एक एक पाद का उसे उपदेश किया। उसका समर्थन आचार्य ने किया, इसी से सत्यकाम ब्रह्मवेत्ता बन गया। अब जैसे धर्म रूप वृषभ ने उसे चतुष्कल ब्रह्म के प्रकाशवान् नामक प्रथम पाद का उपदेश दिया था, उसे ही बताते हैं।"

सत्यकाम को वन में निवास करते जब अधिक समय हो गया, तो उन गौओं के साथ जो वृषभ-साँड-था वह एक दिन अकस्मात् मानुषी वाणी में बोला—"सत्यकाम ?"

सत्यकाम ने वृषभ के मुख से सुस्पष्ट अक्षरों में प्लुत स्वर में–अपना नाम सुना, तो वह आश्चर्य चकित रह गया। किन्तु उसने विधिवत् उपासना की थी, वह कृतोपासक था, अतः समझ गया, वृषभ के मुख से कोई देवता ही प्रसन्न होकर मुझे सम्बोधित कर रहा है। अतः उसने बड़े ही आदर पूर्वक सम्मान सूचक सम्बोधन में उत्तर देते हुए कहा—' कहिये भगवन् ! क्या आज्ञा है ?"

साँड ने कहा—"सौम्य ! तुम जब गुरुकुल से चले थे, तब तुमने प्रतिज्ञा की थी, कि जब तक इन चार सौ गौओं की एक सहस्र गौएँ न होंगी, तब तक मैं नहीं लौटूँगा। एक सहस्र होने पर ही लौटूँगा। सो, वत्स ! अब तो हम सब एक सहस्र संख्या वाले हो गये। तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो गयी। अब तुम हमें आचार्य कुल में पहुँचा दो।"

सत्यकाम ने कहा—"जैसी आप की आज्ञा होगी उसका मैं पालन करूँगा।"

वृषभ ने कहा—"अच्छा, एक बात मैं तुमसे और पूछना चाहता हूँ ?"

वृषभ ने कहा—"तुमने धर्म का पालन करते हुए नित्य अग्नि की उपासना की है-नियमित रूप से समिधाधान किया है, अतः ब्रह्म के दूसरे पाद का उपदेश तुम्हें अग्निदेव करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ऐसा कहकर वृषभ मौन हो गया। सत्यकाम को बड़ी प्रसन्नता हुई। दूसरे दिन उसने गुरुकुल जाने के निमित्त गौओं को हाँक दिया। अब चतुष्कल ब्रह्म के दूसरे पाद का सत्यकाम को जैसे अग्निदेव उपदेश करेंगे, उस कथा को मैं आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

प्रथम पाद यह ब्रह्म कहें जाकूँ प्रकाशयुत।
करै उपासन पुरुष होइ नहिँ कबहुँ धरम च्युत॥
यश चहुँ दिशनि प्रकाश तेज ताके अति होवै।
मुख प्रकाश तैं युक्त होइ विस्मित जो जोवै॥
जीते दिव्य प्रकाशयुत, स्वर्ग लोक कूँ अन्त में।
परम काज नित ही करै, प्रेम होइ भगवन्त में॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चौथे अध्याय में
पंचम खण्ड समाप्त।

—:—

सत्यकाम को ब्रह्म के द्वितीय पाद का अग्नि द्वारा उपदेश

[१५८]

अग्निष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार। ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥*

(छा० उ० ४ प्र० ६ खं १ मं०)

छप्पय

जिज्ञासा जब करी द्वितिय की कहें वृषभ तब।
द्वितिय पाद मग अग्नि करें उपदेश जाइ जब ॥
सुनि गुरुकुल चलि दयो साँझ रुकि अग्नि उपासन।
करिकें समिधाधान पूर्वमुख बैठ्यो आसन ॥
'सत्यकाम !' कहि अग्नि जब, तिहि 'भगवन्' उत्तर दयो।
द्वितीय पाद जो ब्रह्म कौ, उपदेशूँ ज्ञान हौं, कह्यौ ॥

---

* चतुष्कल ब्रह्म के द्वितीय पाद की जब सत्यकाम ने जिज्ञासा की तब वृषभ ने कहा—"अग्नि तुम्हें एक पाद कहेगा। दूसरे दिन प्रातःकाल सत्यकाम ने गुरुकुल के लिये गौओं को हाँक दिया मार्ग में सायकाल होने पर सब गौओं को एकत्रित करके रोक दिया। जहाँ गौएँ एकत्रित थीं, वहीं अग्नि को प्रज्वलित करके उसने समिधाधान किया, फिर अग्नि के पश्चिम में पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया।"

अग्नि की लपटें ऊपर की ओर उठती हैं, इसीलिये ये अग्नि कहे जाते हैं। अग्नि सर्व व्यापक हैं, ईंधन पाकर ये प्रज्वलित होते हैं। पृथ्वी में एक तो साधारण अग्नि होती है जिससे पाक आदि करते हैं। दूसरी अग्निहोत्र की पावन अग्नि है। जिससे उपासना की जाती है। जिसमें देवताओं के निमित्त हविः का प्रक्षेप किया जाता है। उसके ६ भेद हैं—(१) गार्हपत्याग्नि, (२) आहवनीयाग्नि, (३) दक्षिणाग्नि, (४) सभ्याग्नि, (५) अवसथ्याग्नि, और (६) औपासनाग्नि, इन अग्नियों द्वारा देवताओं को हविर्भाग पहुँचाया जाता है। ये सब भूमि में रहने से भौम अग्नि कहलाती हैं। ये काष्ठ की समिधाओं से घृतादि अन्य हविष्य पदार्थों से प्रज्वलित होती हैं। काष्ठादि ही इन अग्नियों का ईंधन है। दूसरी अग्नि समुद्र के जल में रहती है इसे दिव्याग्नि या वडवाग्नि कहते हैं। समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन क्यों नहीं करते? यह वडवाग्नि जल में बैठी रहती है, सीमा से ऊपर के सभी जल को यह खा जाती है। इसका जल ही ईंधन है। तीसरा उदर्याग्नि या जठराग्नि है, वह प्राणिमात्र के उदरों में निवास करती है। प्राणी जो भी अन्न पानादि खाते पीते हैं, उसे यह जठराग्नि पचाती है। इस प्रकार ब्रह्म की भाँति अग्नि सर्वव्यापक है। अध्यात्म दृष्टि से ब्रह्म मानकर इसकी उपासना की जाती है।

अधिदैव रूप में तो अग्नि तैंतीस कोटि देवताओं में से एक देव हैं। ये धर्म की वसु नाम भार्या में उत्पन्न हुए हैं। इनकी पत्नी का नाम स्वाहा है। पावक, पवमान और शुचि आदि इनके पुत्र हैं। इस प्रकार सब मिलाकर उनञ्चास अग्नि माने जाते हैं। ये अग्निकोण दिशा के लोकपाल भी हैं। ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में ही इनकी आराधना बतायी है। वर्णाश्रमियों में अग्नि की उपासना की प्रधानता है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थी को

स्नान करके गौओं के समीप ही, उसने समिधाधान करने के लिये अग्नि प्रज्वलित की। उसने विधिपूर्वक समिधाधान किया। वृषभ ने उसे बता ही दिया था चतुष्कल ब्रह्म के एक पाद का मार्ग मे तुम्हें अग्निदेव उपदेश देंगे।"

अतः समिधाधान करने के अनन्तर अत्यन्त ही श्रद्धा के साथ अग्नि के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया और प्रतीक्षा करने लगा, अग्निदेव कैसे उपदेश करेंगे। तभी अग्नि के भीतर से एक सुमधुर शब्द हुआ। अग्निदेव ने प्लुत स्वर में पुकारा—"सत्यकाम!"

सत्यकाम तो सावधान ही थे, अतः उन्होंने आदर पूर्वक उत्तर दिया—"हाँ, भगवन्!"

अग्निदेव ने पुनः कहा—"सौम्य! यदि तुम सुनना चाहो, तो मैं तुम्हें ब्रह्म का दूसरा पाद सुनाऊँ?"

सत्यकाम ने कहा—"भगवन्! मैं तो इसीलिये परम उत्सुक हूँ। भगवन् मुझे अवश्य उपदेश करें।"

तब अग्नि ने कहा—"देखो, यह लोक ही ब्रह्म का दूसरा पाद है। यह चार कलाओं से युक्त है।"

सत्यकाम ने कहा—"वे चार कलायें कौन-कौन-सी हैं भगवन्!"

अग्नि ने कहा—"सुनो यह पृथ्वी पहिली कला है। अन्तरिक्ष भुवर्लोक दूसरी कला है, द्युलोक-स्वर्ग लोक-तीसरी कला है और जल चौथी कला है। चतुष्कल ब्रह्म का द्वितीय पाद इन चारों कला वाला ही है। ये 'अनन्तवान्' नाम वाला दूसरा पाद है। इसी की द्वितीय पाद के रूप में उपासना करनी चाहिये।"

सत्यकाम ने पूछा—"उसकी उपासना का फल क्या है?"

अग्निदेव ने कहा—"जो पुरुष चतुष्कल ब्रह्म के इन

वान्' नामक पाद की उपासना करता है, वह लोक में अनन्त गुणों से युक्त होता है, और मृत्यु के अनन्तर अनन्तवान् दिव्य लोकों को जातकर अनन्तत्व को प्राप्त कर लेता है। इसीलिये इस अनन्तवान् नामक द्वितीय पाद की उपासना करनी चाहिये।"

सत्यकाम ने कहा—"भगवन्! आपकी कृपा से मुझे चतुष्कल ब्रह्म के अनन्तवान् नामक द्वितीय पाद का बोध हो गया। अब कृपया मुझे तृतीय पाद का भी उपदेश करें।"

अग्निदेव ने कहा—"तुझे तीसरे पाद का उपदेश आकाश में उड़ने वाला वायु स्वरूप हंस करेगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! ऐसा कहकर अग्निदेव अन्तर्हित हो गये। सत्यकाम प्रातः होते ही नित्यकृत्यों से निवृत्त होकर गौओं को हाँकता हुआ गुरु के आश्रम की ओर आगे बढ़ गया। अब ब्रह्म के तृतीय पाद का जैसे हंस उपदेश करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

अन्तरिक्ष, भू, स्वर्ग, नीरनिधि चार कलायें।
अनँतवान् इहि नाम चतुष्कल ब्रह्म बताये॥
अनँतवान् की करै उपासन साधक मन तैं।
सोऊ होइ अनन्त गुणनियुत उत्तम सब तैं॥
जगत माहिँ गुन अनँत लहि, यश कीरति बहु पाइगो।
लोक अनन्तनि विजय करि, अनँतवान् बनि जाइगो॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय मे
षष्ठ खण्ड समाप्त।

———

सत्यकाम को ब्रह्म के तृतीय पाद का हंस द्वारा उपदेश

[१५६]

हँसस्ते पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥*

(छां० उ० ४ म० ७ खं० १ मं०)

छप्पय

तृतिय पाद उपदेश हंस तैं तोइ मिलैगो ।
सत्यकाम चलि दयो रुक्यो सायं सँग लैगो ॥
करिकें समिधाधान पूर्वमुख बैठ्यो जबई ।
करन ताहि उपदेश हंस इक आयौ तबई ॥
"सत्यकाम !" तानें कह्यो, इनि उत्तर "भगवन्" कह्यो ।
उपदेशूँ हौं पादत्रय ! हरषित ह्वै हौं कहि दयो ॥

---

* अग्नि ने अन्तर्हित होने के पूर्व सत्यकाम से कहा—"ब्रह्म के तृतीय पाद का उपदेश तुम्हें हंस देगा। दूसरे दिन आचार्य कुल की ओर उसने गौओं को हाँक दिया। सायंकाल होने पर सब गौएँ एक साथ किसी स्थान पर खड़ी कीं। वहीं उसी स्थान पर सत्यकाम ने अग्नि एकत्रित करके समिधाधान किया। फिर अग्नि के पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया।"

हंस एक पक्षी नाम है, जिसके लिये प्रसिद्धि है कि ५९ ही चुगता है और दूध में से दूध के भाग को पीकर पानी छोड़ है। नार खार विवेक कर लेता है। किन्तु ऐसे हंस अब देखने में नहीं आते अब तो हंस नाम का एक जलचर सफेद पक्षी होता है, उसमें ये दोनों गुण नहीं रहते। पहिले कोई ऐसा पक्षी होता होगा।

हंस शरीर स्थित वायु का भी नाम है। एक हंसोपासना भी होती है। जिसे अजपा गायत्री भी कहते हैं। हमारी नाक से तथा मुख से श्वास प्रश्वास निरन्तर निकलता और प्रवेश करता रहता है। भीतर की वायु निकलती है उसे श्वास या प्राण कहते हैं। बाहर की वायु जब भीतर जाती है, तो उसे प्रश्वास या अपान कहते हैं। अजपा गायत्री वालों का मत है कि जब श्वास निकलती है तो उसमें 'ह' यह सूक्ष्म शब्द होता है और जब प्रवेश करती है 'सः' ऐसा शब्द होता है। इसलिये बिना प्रयत्न के, बिना माला के, बिना शब्द उच्चारण किये जीव सदासर्वदा–रात्रि दिन–हंसः–हंसः इस मन्त्र को जपता रहता है। केवल इसका ज्ञान करके इस पर दृष्टि रखने की आवश्यकता है। फिर इस अजपा-गायत्री का जाप स्वतः ही होता रहता है, मन ससारी विषयों का चिन्तन न करके इसी में खोया रहता है। इसकी विधि यह है कि सुषुम्ना नाड़ी में जो षट्चक्र हैं और सातवा चक्र सहस्रार जो मूर्धा में है। उनके देवताओं को इस जप को अर्पण करता रहे। अजपा गायत्री वालों का मत है कि,जीव के द्वारा दिन रात्रि में इक्कीस सहस्र छै सौ मन्त्र अपने आप जपे जाते हैं। जिस मन्त्र को जपे उसके देवता, ऋषि, छन्द और विनियोग का ज्ञान अवश्य कर ले उन्हें अपने अगों में धारण कर ले। सब मन्त्रों के ऋषि को सिर पर, छन्द को मुख में और देवता को हृदय में धारण किया जाता

है। जैसे त्रिपदा गायत्री छन्द को ले लीजिये इसके ऋषि विश्वामित्र हैं, छन्द गायत्री है और सविता देवता हैं। जप, प्रणायाम अर्घ्यादि में इसका विनियोग होता है। ऐसे ही इस 'हंसः' रूपी अजपा गायत्री के हंस तो ऋषि हैं, अव्यक्त गायत्री छन्द है और परमहंस परमात्मा देवता हैं। इसलिये हंस ऋषि को सिर पर, अव्यक्त गायत्री छन्द को मुख में परमहंसदेव को हृदय में सर्व-प्रथम धारण करके तब इकीस सहस्र छै सौ मन्त्रों का जप करे। जप क्या करे स्वाभाविक होते हुए जप को सातों चक्रों के देवताओं को अर्पण करता रहे।

जैसे पहिला चक्र है मूलाधार वह गुदा में है, यह चार दल वाला चक्र है, इन चारों दलों का वर्ण स्वर्णवर्ण के सदृश है। चारों दलों के बीच में कर्णिका है उसमें गायत्री के सहित गण-नाथदेव विराजमान है। चारों दलों में व, श, ष, स, ये मात्रिका वर्ण हैं। इसलिये छै सौ संख्या जप तो इन्हें अर्पण कर देना चाहिये। अब शेष रहे इकीस सहस्र मंत्र उन्हें अन्य चक्रों के देवताओं को क्रमशः अर्पण करता चले।

दूसरा चक्र है स्वाधिष्ठान चक्र। वह लिंग स्थान में है। यह ६ दल वाला चक्र है। इन छैः दलों का वर्ण ऐसा है जैसे अनेक विद्युत मिलकर परमप्रकाश युक्त हों। इस कमल की कर्णिका के मध्य सावित्री शक्ति सहित चतुर्मुख ब्रह्मा विराजमान है। इस चक्र के छैः ऊदलो में ब, भ, म, य, र और ल ये छैः मात्रिका वर्ण अंकित है। अतः ६ सहस्र अजपा हंसः मंत्र [illegible] सहित ब्रह्माजी को अर्पण करता रहे।

तीसरा चक्र है मणिपूरक। वह नाभि देश में स्थित है, दश दल वाला चक्र है। उसकी कर्णिका में [illegible] विष्णु भगवान् विराजमान हैं। इस चक्र के दलों

नीलकमल तथा जल भरे मेघों के सदृश गहरे नील वर्ण का है दशों दलों मे ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, और फ ये द मात्रिका वर्ण अंकित हैं। इस चक्र में भगवान् लक्ष्मीनारायण हैं छैः सहस्र अजपा हंस मंत्र को अर्पण कर दे।"

चौथे चक्र का नाम है अनाहत चक्र। यह वक्षःस्थल मे स्थित है। १२ दल वाला कमल है। इसके बीच की कर्णिका में गौरी शक्ति सहित शिवजी विराजमान है। इस चक्र का वर्ण तरुण सूर्य के सदृश है। इसके बारह दलों मे क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट और ठ ये बारह मात्रिका वर्ण अंकित हैं इस चक्र के अधिष्ठातृदेव गौरीशंकर को अजपा हंस गायत्री ६ सहस्र मंत्र अर्पण कर दे।

पाँचवे चक्र का नाम है, विशुद्ध चक्र। यह सोलह दल वाला कमल है, कण्ठ देश मे अवस्थित है। इस कमल की मध्य कर्णिका में जीवात्मा रूप से भगवान् विराजमान है। सोलह दलों में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं और अः ये सोलह स्वर मातृका वर्णों के रूप में अंकित हैं। इस चक्र के अधिष्ठातृ देव जीवात्मा को अजपा गायत्री मंत्र एक सहस्र अर्पण कर दे।

छटे चक्र का नाम आज्ञा चक्र है। इसका स्थान दोनों भ्रुकुटियों के मध्य में है। इसकी प्रभा चन्द्रमा के सदृश है। यह दो दल वाला कमल है। इसके मध्य की कर्णिका में माया शक्ति सहित गुरुदेव विराजमान हैं। दोनों दलों मे ह और क्ष ये दो मात्रिका वर्ण अंकित हैं। इनको भी एक सहस्र अजपा हंस गायत्री मंत्र अर्पण कर दे। इस प्रकार २० सहस्र ६०० मंत्र हो गये।

अब सातवाँ सहस्रार चक्र है, जो मूर्धा में ब्रह्म रन्ध्र मे अव-

स्थित है। वह नाना वर्ण तथा सहस्र दल वाला कमल है। इसमें अकार से लेकर क्ष पर्यन्त सभी मातृका वर्ण हैं। इसकी कर्णिका के मध्य में साक्षात् परब्रह्म परमात्मा विराजमान हैं। शेष एक सहस्र अजपा हंसः गायत्री मंत्र इन्हें अर्पण कर दे। इस प्रकार हंसः मंत्र का अजपा जाप करके इसे शरीरस्थ देवों को अर्पण करता चले। हंसः को जपते-जपते सोऽहं-सोऽहं जप स्वतः होने लगता है। जैसे मरा-मरा कहते-कहते राम-राम का जप होता है। इसी प्रकार इस हंसः मंत्र का जाप श्वास उच्छ्वास में अपने आप ही होता रहता है। यह प्राण ही हंसात्मा है। यही प्राण आत्मरूप से शरीर में स्थित है। हंकार से बाहर जाता है, सकार से पुनः प्रवेश करता है। इस रहस्य को जो जान लेता है उसका संसार बन्धन क्षय हो जाता है। यह हंसरूप प्राण नाभि से उठता है, हृदयाग्नि में इसकी व्यवस्थिति है। अतः जो नित्य नियम से अग्निहोत्र प्राणायाम करता है, उस पर हंसात्मारूप प्राण प्रसन्न होकर उसे ज्ञान प्रदान करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सत्यकाम जाबाल ब्रह्म के दो पादों का उपदेश पाकर तीसरे पाद के लिये हंसदेव की प्रतीक्षा करने लगा। वह गौओं को हाँकता हुआ, गुरुकुल की ओर जा रहा था, कि सायंकाल होने पर गौओं को एकत्रित करके एक स्थान पर रुक गया। वहाँ नित्य कर्म से निवृत्त होकर सायं-कालीन समिधाधान करने के निमित्त उसने अग्नि को प्रज्वलित किया। विधिवत् समिधाधान करने के अनन्तर वह अग्नि के पश्चिम ओर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। उस समय वह क्या देखता है आकाश से एक परम शुभ्र दर्शनीय हंस उतरकर उसके समीप आ रहा है। आते ही उसने मधुर स्वर में पुकारा—"सत्यकाम!"

सत्यकाम तो सावधान ही था, अतः उसने समादर के उत्तर दिया—"जी, भगवन् !"

तब हंस ने कहा—"हे सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्म का एक पा बताना चाहता हूँ। क्या तेरी सुनने की इच्छा है, यदि ह । तो बताऊँ ?"

इस पर सत्यकाम ने कहा—"भगवन् ! आपकी बड़ी है, मैं उसे सुनने को परम समुत्सुक हूँ। कृपा करके उसे बतावें।"

तब हंस ने कहा—"यह तृतीय पाद भी चार कलाओं है।"

सत्यकाम ने पूछा—"भगवन् ! वे चार कलायें कौन-कौन सी हैं ?"

हंस ने कहा—"देखो, तृतीय पाद ब्रह्म की पहिली कला अग्नि है, दूसरी कला सूर्य है, तीसरी कला चन्द्रमा है और चौथी कला विद्युत है। हे सोम्य ! यह चतुष्कल ब्रह्म का तृतीय पाद है इसका नाम ज्योतिष्माम् पाद है।"

सत्यकाम ने पूछा—"इस ज्योतिष्मान् पाद के जानने फल क्या है ?"

हंस ने कहा—"जो उपासक चतुष्कल ब्रह्म के तीसरे इस ज्योतिष्मान् गुण से युक्त पाद की उपासना करता है। वह इस लोक में तो परम ज्योतिष्मान् होता है। उसके समस्त किल्विप-सम्पूर्ण दोष नष्ट होकर वह जगत् में प्रकाशवान् पुरुष होता है। अन्त में मृत्यु के अनन्तर यह ज्योतिष्मान् लोकों को जीतकर उन प्रकाशयुक्त दिव्य लोकों में निवास करता है।" यही इस चतुष्कल ज्योतिष्मान् की उपासना का फल है।"

यह सुनकर सत्यकाम ने कहा—"भगवन्! मुझे ब्रह्म के चौथे पाद का उपदेश और दें।"

इस पर हंसदेव ने कहा—"एक मद्गु नामक जलजन्तु है, वह तुम्हें ब्रह्म के चतुर्थ पाद का उपदेश देगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! सत्यकाम को ब्रह्म के तीन पाद का ज्ञान हो गया। अब वह ब्रह्म का चौथा पाद जानने को परम उत्सुक हुआ। अब जैसे उसे ब्रह्म के चौथे पाद का उपदेश मद्गु (पान कौड़ि) नामक जलचर पक्षी करेगा, उस प्रसङ्ग को आगे कहूँगा आशा है इसे आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

अग्नि, सूर्य, शशि और कला विद्युत चारिहु ये।
ज्योतिष्मान तृतीय विदित ये पाद कहे ते॥
कह्यो चतुष्कल ब्रह्म तृतिय जो करै उपासन।
होवै ज्योतिष्मान गुननि तैं इहि जग भूषन॥
होइ कान्ति ताकी सुघर, संसारी सुख पाइगो।
पुनि मरि ज्योतिष्मान जे, तिनि लोकनि में जाइगो॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
सप्तम खण्ड समाप्त।

सत्यकाम को ब्रह्म के चतुर्थ पाद का मद्गु द्वारा उपदेश तथा आचार्य द्वारा उसी ज्ञान की पुष्टि

[१६०]

मद्गुष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश॥१॥

(छा० उ० ४ प्र० ८ ख० १ मं०)

यह संसार धर्म, अग्नि, वायु, और जल के ही आधार पर स्थित है। सर्वप्रथम भगवान् ने जल की ही सृष्टि की। जैसे प्राणवायु जीवन है वैसे ही जल भी जीवन है। जल के बिना प्राण रह नहीं सकते। जैसे वाह्यकरण-दशों इन्द्रियाँ-अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार-ये प्राणों के बिना टिक नहीं सकते। उसी प्रकार प्राण जल के बिना टिक नहीं सकते। प्राणों का आधार जल है। जल भगवान का वीर्य है। नार जल को कहते हैं। वह अयन-स्थान-आयतन जिनका है, वे भगवान् नारायण कहलाते हैं। जल का आयतन स्थान क्या है शरीर है। शरीर क्या है वाह्यकरण और अन्तःकरण है। वाह्यकरण अथवा इन्द्रियाँ दश हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय हैं, मन से चारों अन्तःकरणों का बोध होता है। प्राण इन सबका आधार है। अतः जल रूप प्राण, चक्षु श्रोत्र और मन ये चार ही ब्रह्म के आयतन-रहने के स्थान हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, मन और प्राण ये ही आयतन घर हैं। इस रहस्य को जो जानता है। वह इस लोक में तथा परलोक में भी गृहहीन नहीं होता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सत्यकाम सच्चा जिज्ञासु था। उसे चतुष्कल ब्रह्म के पहिले पाद की पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण इन चार कलाओं का ज्ञान तो धर्मरूप वृषभ द्वारा हुआ, दूसरे पाद की पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समुद्र रूप चारों कलाओं का ज्ञान अग्नि से हुआ ब्रह्म के तृतीय पाद की अग्नि सूर्य, चन्द्र और विद्युत इन चार कलाओं का ज्ञान वायु हंसरूप से हुआ। अब चौथे पाद की चार कलाओं का ज्ञान होना शेष था। हंस चलते समय बता गये थे। इन जलरूप प्राणसंज्ञक चतुर्थ पाद का उपदेश मद्गु पक्षी करेगा।

इसलिये इस चतुष्कल ब्रह्म के चतुर्थ पाद, जलरूप

की चार कलाओं का ज्ञान प्राप्त करने को परम उत्सुक था। इ
लिये दूसरे दिन वह गौओं को आगे आगे हाँकता हुआ अ
बढा। जहाँ सायंकाल हो गया, वहाँ उसने गौओं को एक
करके खड़ा किया। नित्य कर्मों से निवृत्त होकर समिधाधान
के निमित्त उसने अग्नि प्रज्वलित की। समिधाधान करने
अनन्तर अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख होकर वह मद्गु जलचर
की प्रतीक्षा में बैठ गया। तभी उसे एक सुमधुर वाणी
दी—"सत्यकाम !"

सत्यकाम तो सतत सावधान ही थे, वे समझ गये
रूप में जीवनाधार आ गये। अतः उसने उत्तर दिया—
भगवन् ! क्या आज्ञा है ?"

मद्गु ने कहा—"सौम्य ! में तुम्हें ब्रह्म का चतुर्थ पाद
चाहता हूँ। तुम्हारी सुनने की इच्छा हो तो सुनाऊँ ?"

सत्यकाम ने समाहित चित्त से शांति सरलता के साथ
"भगवन् ! मैं सुनने को समुत्सुक हूँ कृपा करके सुनाइये।"

मद्गु ने कहा—"चतुष्कल ब्रह्म की प्राण, चक्षु, श्रोत्र,
मन ये ही चार कलायें हैं, यही ब्रह्म का 'आयतनवान्'
चतुर्थ पाद है। जो उपासक इसकी उपासना करता है। वह
लोक में आयतवान् होता है और अन्त में आयतवान् लोकों
जीतकर उनमें प्रमुदित होता है। यह आयतनवान् ब्रह्म का
पाद है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार सत्यकाम
वृषभ, अग्नि, हंस और मद्गु पक्षी द्वारा चतुष्कल ब्रह्म के
पादों की तथा सोलह कलाओं का ज्ञान प्राप्त करके कृतार्थ
गया। उसके मुख मण्डल पर प्रत्यक्ष ब्रह्मज्ञान की ज्योति छिट
कने लगी। उसका आनन ब्रह्मतेज से प्रदीप्त हो उठा।

पुष्ट एक सहस्र गौओं को लेकर आश्रम में अपने आचार्य तम गोत्रीय हारिद्रुमत के समीप पहुँचा। उसने आचार्य चरणों साष्टांग प्रणाम किया। अपने शिष्य को सम्मुख विनम्र भाव से ड़ा देखकर प्रेममूर्ति आचार्य खिल उठे। वे अत्यन्त ही अनुराग के साथ बोले—"कौन, वत्स! सत्यकाम?"

नम्रता के साथ सत्यकाम ने उत्तर दिया—"जी, भगवन्!

आचार्य ने कहा—"अच्छा, बेटा तू आ गया? सौम्य! तेरा मुख मंडल तो ब्रह्मतेज से दम-दम दमक रहा है। तू तो ब्रह्मवेत्ताओं की भाँति भासित हो रहा है? मैंने तो तुझे ब्रह्म का उपदेश दिया नहीं। फिर तुझे ब्रह्म विद्या की प्राप्ति किससे हुई? किसने तुझे ब्रह्म का उपदेश दिया?"

सत्यकाम ने कहा—"भगवन्! मुझे किसी मनुष्य ने ब्रह्म का उपदेश नहीं दिया।"

आचार्य ने पूछा—"ब्रह्मज्ञान तो तुम्हें अवश्य हुआ है, मनुष्य ने उपदेश नहीं किया, तो किसने किया है?"

सत्यकाम ने कहा—"मनुष्यों से इतर-वृषभ, अग्नि, हंस और जलचर मद्गु ने चतुष्कल ब्रह्म के एक-एक पाद का उपदेश मुझे किया है।"

आचार्य ने कहा—"किसी ने भी किया हो तुम ब्रह्मवेत्ता तो हो ही गये।"

सत्यकाम ने कहा—"भगवन्! समानशीलता में ही स्थिरता है। भगवान् के अनेकों अवतार हैं, किन्तु मनुष्यों को रामावतार और कृष्णावतार से ही अधिक अनुराग है। इसलिये भगवन्! जब तक मैं अपने पूज्यपाद आचार्य के श्रीमुख से उपदेश ग्रहण न कर लूँ, तब तक मुझे सन्तोष न होगा। अतः भगवन्! आप

मुझे ब्रह्म का उपदेश करें। ऋषियों ने यही बात कही है कि "आचार्य द्वारा प्राप्त विद्या ही साधुता को प्राप्त होती है।"

आचार्य ने पूछा—"उन चारों ने तुम्हें क्या उपदेश दिया था ?"

सत्यकाम ने कहा—"वृषभ ने ब्रह्म के प्रकाशवान् नाम की पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर ये चार कलायें बतायीं। अग्नि ने ब्रह्म के द्वितीय अन्तवान् पाद की पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समुद्र ये चार कलायें कहीं। हंस ने ब्रह्म के तृतीय - ष्मान् पाद की अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत ये कलायें बतायीं। और मद्गु नामक जलचर ने चतुष्कल ब्रह्म के चतुर्थ पाद की प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये कलायें बतायीं। चारों ने पाद और षोडश कलायुक्त ब्रह्म का उपदेश दिया।

आचार्य ने कहा—"तुमको यथार्थ ब्रह्म का उपदेश है। वृषभ रूप में वह धर्मदेव थे, अग्नि रूप में वे ही हुतभुक् थे, हंस रूप में प्राणात्मा वायु थे और मद्गु रूप में ज. वरुण देव थे। देखो प्रकाश, अनन्त, ज्योति और आयतन ये ब्रह्म के प्रतीक हैं। प्रकाश दिशाओं में होता है, अतः दिशायें . का एक पाद हैं। पृथ्वी अन्तरिक्ष तथा ऊपर के समस्त लो. तथा समुद्र ये सब अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। सत्य, ज्ञान और - यही ब्रह्म का लक्षण बताया है। वह ब्रह्म ज्योति रूप में प्रत्यक्ष होता है। इस जगत् में अग्नि, सूर्य, चन्द्र, और . इनमें ही ज्योति प्रत्यक्ष दृष्टि होती है। ब्रह्म का आयतन-स्थान प्राण कर्म और ज्ञान इन्द्रियाँ, अन्तःकरण ये ही हैं। अतः यह षोडश कलायुक्त चतुष्पाद ब्रह्म ही सत्य है। तुम्हें जो ज्ञान प्राप्त हुआ है वह पूर्णज्ञान प्राप्त हुआ है। वह पूर्णज्ञान है। उसमें कुछ

भी न्यून नहीं हुआ। मैं तुमसे फिर कहता हूँ, इसमें कुछ भी न्यून नहीं हुआ है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उसी देवों द्वारा दत्त ज्ञान को अपने आचार्य के मुख से श्रवण करके सत्यकाम कृतार्थ हो गये। यह मैंने सत्यकाम जाबाल के सम्बन्ध से षोडशकलात्मक चतुष्पाद ब्रह्म के सम्बन्ध में बताया अब अग्नि ने जैसे उपकोसल को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है, उसका वर्णन मैं आगे आपसे करूँगा। आशा है आप इस प्रसंग को दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

प्राण, चक्षु, मन, श्रोत्र पाद आयतन वान वर।
ब्रह्म चतुष्कल जानि होहिं आयतनवान नर॥
चतुष्पाद उपदेश पाइ बटु गुरुकुल आयो।
ब्रह्म प्राप्त तब भयो देखि मुख गुरु बतलायो॥
पुरुष अन्य उपदेश तैं, नहिं गुरु! मेरो हिय भरयो।
उपदेशें गुरु! आपु अब, पुनि गुरु उपदेशहु करयो॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
अष्टम तथा नवम खण्ड समाप्त।

ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में उपकोसल ब्रह्मचारी की कथा

[१६१]

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार स ह स्माऽन्यानन्तेवासिनः समावर्तय ँ स्त ँ ह स्मैव न समावर्तयति ॥*

(छा० उ० ४ प्र० १० ख० १ म०)

छप्पय

सत्यकाम जाबाल भये गुरु बटुनि पढ़ावैं ।
ब्रह्मचर्यव्रत धारि शिष्य बहु पढ़िवे आवैं ॥
उपकोसल इक शिष्य अग्नि सेवा-गुरु कीन्हीं ।
स्नातक सगी करे न तिहि गृह अनुमति दीन्हीं ॥
गुरुआनी गुरु तैं कही, करी अनसुनी चलि गये ।
करयो दुखित उपवास जब, उपदेशहु अग्निनि दये ॥

---

* उपकोसल कामलायन नाम का ब्रह्मचारी सत्यकाम जाबाल आचार्य के गुरुकुल में निवास करता था। उसने द्वादश वर्ष पर्यन्त गुरु की परिचर्या की। गुरु ने अन्य विद्यार्थियों का तो समावर्तन संस्कार कर दिया। किन्तु केवल इसी का समावर्तन संस्कार नहीं किया।

विद्या वह है हमें जो मुक्ति का मार्ग दिखा दें। आचार्य वह है, जो वेद की श्रुतियों का ज्ञाता श्रोत्रिय तथा ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म-निष्ठ हो। पहिले प्रायः आचार्य कर्मपरायण सद्गृहस्थ होते थे वैसे गृहस्थी भू, भुव और स्वर्गलोक से ऊपर नहीं जा सकते। क्योंकि वे प्रजावान् होते हैं प्रजावानों के ये ही लोक हैं, किन्तु जीवनभर सदाचरण का पालन करने वाले गृहस्थ में रहते हुए भी कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले तथा सदा सर्वदा यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय और प्रवचन में निरत श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महर्षिगण महर्लोक को प्राप्त कर लेते हैं। उनका पुनः प्रायः जन्म नहीं होता। वे त्रैलोक्य को पारकर के मृत्यु को जीत लेते हैं।

सद्यः मुक्ति तो किसी विरले ही महापुरुष की युगयुगान्तरों में होती है। नहीं तो देहधारी सत्कर्म में निरत ज्ञानियों की क्रम-मुक्ति ही हुआ करती है। महः जन, तप और सत्यलोक में प्रायः क्रममुक्ति वाले मुक्तपुरुष ही निवास करते हैं। अतः आचार्य-गण ऐसी ही उपासना का उपदेश करते थे, जिसके प्रभाव से इस लोक में भी समस्त सुख समाग्रियाँ प्राप्त हों, परलोक में भी दिव्य सुख प्राप्त हों और अन्त में संसार सागर से सदा के लिये विमुक्त बन जाय।

जिह्वा और जननेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करके जो समस्त भोग वासनाओं का परित्याग कर देता है वास्तव में वही तपस्वी है, वही यथार्थ ब्रह्मचारी है, ब्रह्म प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य को पालन करना परमावश्यक है। गुरुकुल में ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके जो गुरु, अग्नि, देव तथा अतिथियों की सेवा में संलग्न रहता है, वही विद्या प्राप्ति का अधिकारी समझा जाता है। ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते थे। एक तो वे जिनके मन में गृहस्थ बनने की वासना है, दूसरे वे जो गृहस्थी के झंझट में नहीं फँसना चाहते। जो गुरु-

कुल से स्नातक बनकर दार-ग्रहण करके भी ऋषि जीवन बिताते हुए यज्ञ, दान, तपस्या तथा स्वाध्याय प्रवचनादि पुण्य कर्मों में जीवन बिताते हैं, अन्त मे उन्हें महर्लोक की प्राप्ति होती है। दूसरे वे जो गृहस्थ के चक्कर में पड़ते ही नहीं। अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करके जीवनभर नैष्ठिक बने रहते हैं। उन्हे महर्लोक से भी ऊँचे जन लोक की प्राप्ति होती है। सभी ब्रह्म हे, जिसे जिसकी उपासना से ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि हो जाय, उसके लिये वे ही ब्रह्म हैं। हम जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश को लोक मे देखते हैं ये इनके आधिभौतिक रूप हैं। जो इनमे लगा रहेगा, उन्हे नाना पचभूत निर्मित देह प्राप्त होते रहेंगे।

इन सबके एक आधिदैविक रूप भी हैं। जेसे मेष पर चढ़े हुए ज्वाला मालायुक्त अग्नि देवता, रथ मे बैठे सूर्यदेवता, देवता रूप में इनकी उपासना करने से ये प्रत्यक्ष देवरूप में दर्शन देते हैं और अन्त में अपने लोकों को ले जाते हैं जहाँ इस लोक से बढ़ कर दिव्य भोग हैं। उन्हीं देवताओं की ब्रह्मभाव से उपासना की जाय, तो वे दिव्य भोगो के साथ ही साथ ज्ञान भी प्रदान करते हैं जिस ज्ञान से अन्त मे मुक्ति प्राप्त होती है। इससे यही सिद्ध हुआ कि आधिभौतिक पचभूतों की उपासना से बार बार अनेक पाचभौतिक योनियाँ प्राप्त होती हैं। देवताओं की उपासना से स्वर्ग के दिव्यभोग मिलते हैं और ब्रह्मोपासना से ज्ञान होकर अन्त में मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसका उपाय है, आचार्य की शरण में जाकर सत्कर्मों का निरन्तर अनुष्ठान करते रहना। इससे देवता प्रसन्न होते हैं, आचार्य प्रसन्न होते हैं और ज्ञान की प्राप्ति पूर्वक मुक्ति होती है। समस्त उपनिषदें भाँति भाँति से उपासना पूर्वक इसी मुक्तिमार्ग का उपदेश करती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जैसे सत्यकाम जाबाल ने गुरु

सुश्रूषा से देवताओं द्वारा तथा अन्त में गुरुदेव के मुख से ज्ञान प्राप्त किया, वह कथा तो मैं कह ही चुका। अब उन्होंने अपने शिष्यों पर कैसे अनुग्रह की। ऊपर से कठोरता प्रदर्शित करके किस प्रकार देवताओं द्वारा अपने शिष्य को उपदेश कराया, और अन्त में स्वयं ने भी उसी ज्ञान को कहकर उसका अनुमोदन किया, इस ब्रह्मविद्या की साधनभूता उपकोसल की कथा का आरम्भ करते हैं।"

अपने गुरु गौतम गोत्रीय हरिद्रुमत महर्षि के यहाँ से शिक्षा पाकर-उनसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश प्राप्त करके, सत्यकाम जाबाल समावर्तन संस्कार कराकर-स्नातक होकर-अपनी माता के समीप गये। माताओं की तो उत्कट अभिलाषा रहती ही है-'मैं अपने पुत्र को पुत्रवधू के सहित देखूँ।' अतः जबाला ने सत्यकाम जी से विवाह करने का आग्रह किया। उन्होंने भी माता की आज्ञा से दारग्रहण करके द्वितीय आश्रम गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। वे अपनी धर्मपत्नी के सहित अरण्य में वास करते हुए अग्नि, देवता, पितरों तथा अतिथियों की सेवा करते हुए, स्वाध्याय प्रवचनादि सत्कर्मों में समय बिताने लगे। उनके तप की ख्याति सुनकर दूर-दूर देशों से अन्तेवासी-विद्यार्थी-उनके समीप ब्रह्मचर्यव्रत धारण पूर्वक विद्या प्राप्ति के निमित्त निवास करने लगे। उनके समीप एक कमल का पुत्र कामलायन नाम का छात्र जिसका दूसरा नाम उपकोसल भी था, वह भी निवास करता था। प्रतीत होता है, वह उपकोसल देश का रहा होगा। उसने नियम पूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए बारह वर्ष पर्यन्त गुरुकुल में निवास किया। आचार्य की जो अग्नि थीं उनकी सेवा भी वह बड़ी लग्न के साथ नियमित रूप से करता रहा।

प्रायः ब्रह्मचारी लोग बारह वर्षों तक गुरुकुल में वास करके

जो उपकुर्वाण होते हैं गृहस्थी बनना चाहते हैं, वे गुरु की आज्ञा से समावर्तन संस्कार कराकर घर चले जाते हैं और घर पर विवाह करके गृहस्थी जीवन बिताते हुए कालयापन करते हैं। उपकोसल कामलायन के साथ जितने विद्यार्थी आये थे। उसके जितने साथी सहपाठी थे, उन सबका तो आचार्य ने समावर्तन संस्कार करा दिया। वे सब तो अपने-अपने घर चले गये। यह उपकोसल रह गया। आचार्य ने जान बूझकर इसका समावर्तन नहीं कराया।

यह गृहस्थ बनने की कामना करता था, किन्तु जब तक आचार्य अनुमति न दें, तब तक कैसे जा सकता था। सत्यकाम आचार्य की पत्नी को यह बात अच्छी नहीं लगी। नारी हृदय मनुष्य के हृदय की कामना को शीघ्र परख लेता है। उपकोसल उदास रहने लगा। गुरुआनी उसके भाव को समझ गयी। दया मयावती आचार्यपत्नी ने एक दिन अपने पति से एकान्त में कहा—"प्राणनाथ! मुझे आप से एक निवेदन करना है?"

आचार्य ने कहा—"कहो, क्या कहना चाहती हो?"

आचार्यपत्नी ने कहा—"देखिये, यह जो उपकोसल कामलायन ब्रह्मचारी है, इसके सभी साथी तो व्रत स्नान करके-स्नातक होकर-समावर्तन संस्कार कराकर अपने-अपने घर चले गये, इसे आपने अभी तक क्यों रोक रखा है? इसका समावर्तन क्यों नहीं कराया?"

आचार्य ने कहा—"करा देंगे, ऐसी शीघ्रता क्या है?"

आचार्यपत्नी ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"शीघ्रता क्यों नहीं है, बेचारा भोलाभाला बच्चा उदास रहता है। इसने और विद्यार्थियों की अपेक्षा आपकी सेवा भी अधिक की है। इसने तपस्या भी यथेष्ट की है। इसने आपकी अग्नियों की

सेवा भी मन लगाकर की है। अग्नियाँ इस पर प्रसन्न भी हैं। यदि आप इसकी इच्छा के विपरीत करेंगे, तो ये अग्नियाँ आप की निन्दा करेंगीं। अतः अग्नियाँ आप की निन्दा न करें इसके पूर्व ही आप इसे ब्रह्मविद्या का उपदेश देकर–समावर्तन संस्कार कराकर–व्रत का स्नान कराकर–स्नातक बनाकर–घर भेज दीजिये।"

आचार्य ने कहा—"अच्छी बात है, करा देंगे।"

आचार्यपत्नी नित्य इनसे कहती रहीं आचार्य टालमटूल करते गये। अन्त में जब उनकी धर्मपत्नी ने अत्याधिक आग्रह किया, तो किसी आवश्यक कार्य के व्याज से बाहर चले गये। बहुत दिनों तक लौटे ही नहीं।

अब तो उपकोसल निराश हो गया। उसे अत्यधिक मानसिक क्लेश हुआ। मानसिक व्याधि ने उसे घेर लिया। उसने भोजन का परित्याग कर दिया।

दयामयी आचार्यपत्नी ने बड़े प्रेम से पूछा—"बेटा! ब्रह्मचारी! अरे, तू अनशन क्यों कर रहा है? भोजन क्यों नहीं करता?"

उपकोसल ने कहा—"माताजी! अब मैं आपको क्या बताऊँ? इस मनुष्य के अन्तःकरण में–पूर्व वासनाओं के अनुसार–बहुत-सी कामनाएँ भरी रहती हैं। वे कामनाएँ वस्तु स्वरूप का उल्लङ्घन करके मनुष्य को अनेक ओर ले जाने वाली हैं। ब्रह्मप्राप्ति के अतिरिक्त भी जीव की नाना विध सांसारिक वासनायें होती हैं। ये वासानायें ही प्राणियों को व्यथित बना देती हैं। वासनाओं के वशीभूत प्राणी को खाना-पीना फिर कुछ अच्छा नहीं लगता। माताजी! आपकी बड़ी दया है जो आप मेरी इतनी चिंता रखतीं हैं, मुझसे भोजन करने का आग्रह करती हैं, किन्तु मैं नम्रतापूर्वक निवेदन करता हूँ, इस समय मैं मानसिक चिन्ताओं से युक्त होने

के कारण व्यथित हूँ, व्याधियुक्त हूँ मुझे खान-पान सुहाता नहीं, अतः मैं भोजन नहीं करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! गुरुआनी से ऐसा कहकर वह ब्रह्मचारी बिना भोजन किये हुए भी लगन के साथ भली प्रकार अग्नियों की सेवा में पूर्व की ही भाँति लगा रहा। वह *अव्यग्र भाव से अग्नियों की सेवा करता ही रहा।"*

आचार्य घर पर नहीं हैं। उपकोसल ने अनशन कर रखा है। आचार्यपत्नी चिंतित तथा दुखित हैं, ब्रह्मचारी अनशन कर भी अग्नि की भली-भाँति सेवा में संलग्न है। इससे अग्निहोत्र की अग्नियाँ ब्रह्मचारी पर प्रसन्न हो गयीं। गार्हपत्य, पचन-दक्षिणाग्नि और आहवनीय तीनों अग्नियों ने ... होकर परस्पर में कहा—"देखो, इस ब्रह्मचारी ने जितनी ... करनी चाहिये उतनी तपस्या की है। गुरुकुल में रहकर यह भली भाँति तपस्या कर चुका है। इसने बड़ी सावधानी ... से हमारी भली-भाँति सेवा भी की है। अब हमें ही इसको ब्रह्म ज्ञान का उपदेश करना चाहिये।"

ऐसा निश्चय करके अग्नियों ने उपकोसल से कहा—"वत्स उपकोसल!"

ब्रह्मचारी ने कहा—"हाँ, भगवन्त!"

अग्नियों ने कहा—"ब्रह्मचारिन्! हम तुम्हें ब्रह्म का ... करना चाहते हैं, करें?"

ब्रह्मचारी ने कहा—"आप सब की महती अनुग्रह है, ... करके उपदेश कीजिये।"

तब अग्नियों ने कहा—"प्राण ही ब्रह्म है कं ब्रह्म है खं है।"

ब्रह्मचारी ने कहा—"प्राण ब्रह्म है, यह तो सर्वविदित बात

इसे तो मैं जानता हूँ। क्योंकि शरीर में प्राण ही मुख्य हैं। प्राणों के चले जाने पर समस्त इन्द्रियाँ चली जाती हैं, देह निष्क्रिय बन जाता है। किन्तु कं खं को जो आप ने ब्रह्म बताया, यह बात मेरी समझ में नहीं आयी। कृपया इसे मुझे समझा दीजिये। वैसे कं सुखम्–खं आकाश–क तो सुख का नाम है, ख आकाश को कहते हैं। ब्रह्म अविनाशी है। वह अनपेक्ष है उसे दूसरे की अपेक्षा नहीं। ये संसारी सुख तो दुःख की अपेक्षा रखते हैं, फिर वे नाशवान् हैं। नाशवान् सुख ब्रह्म कैसे हो सकता है। आकाश भी पंचभूतों में से एक भूत है। भूत नाशवान् हैं, आकाश भी नाशवान् है। फिर खं–आकाश ब्रह्म कैसे हो सकता है। आप अग्निदेव प्रत्यक्ष सर्वपूज्य देव हैं। आप असत्य भी नहीं कह सकते, अतः कृपा करके मुझे समझा दें कं खं कैसे ब्रह्म हैं?"

इस पर अग्नियों ने कहा—"जो क है वही ख है और जो ख है वही क है। अर्थात् प्राण का आश्रय जो हृदयाकाश है वही वास्तविक सुख है। सुख से यहाँ द्वन्द्व वाला सुख नहीं। संसारी सुख नहीं। नित्यसुख और आकाश से पंचभूतों वाला आकाश नहीं। हृदय कमल के मध्य का अवकाश ही है। इसलिये प्राण ब्रह्म है और उसके आश्रयभूत जो आकाश है वह ब्रह्म है। इसको हम तीनों अग्नियाँ स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् तुम्हें उपदेश करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब तीनों अग्नियाँ जैसे अपने चार-चार शरीरों को बताकर उनमें ब्रह्मोपासना का प्रकार बतावेंगे, उन तीनों अग्नियों के पृथक्-पृथक् उपदेशों को मैं आगे वर्णन करूँगा, आशा है आप इस पुण्य प्रसंग को प्रेमपूर्वक श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

अग्नि कहें—है ब्रह्म प्राण अरु क ख बटु ! सुनि ।
बोल्यो बटु—है प्राण ब्रह्म सब कहें विज्ञ मुनि ॥
क ख कैसे ब्रह्म ? जाइ मोकूँ समुझावें ।
कहे गारपत अगिनि चारि मम देह कहावें ॥
अग्नि, अन्न, आदित्य भू, पुरुष दिखे आदित्यमहँ ।
वही ब्रह्म करि उपासन, प्राप्त अग्नि के लोकमहँ ॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
दशम खण्ड समाप्त ।

—•—•—

तीनों अग्नियों द्वारा उपकोसल को उपदेश

[१६२]

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पाप कृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावर पुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिँश्चलोकेऽमुष्मिँश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥*

(छां० उ० ४ अ० ११ ख० २ मं०)

छप्पय

गार्हपत्य फल कह्यो पुन्य मम लोकनि आवै।
उज्वल जीवन पुत्रवान बहु आयू पावै॥
दक्षिणाग्नि जल, दिशा, चन्द्र, नक्षत्र बताये।
चन्द्र पुरुष जो दिखे ब्रह्म वह यों समुझाये।
फल पूरव सम ही कह्यो, अग्नि आहवनि आइ पुनि।
प्राण, स्वर्ग नभ, बीजुरी, विद्युत् नर हौं ब्रह्म सुनि॥

---

* इस प्रकार चतुर्था विभक्त अग्नि को जानकर उसकी उपासना करता है, वह पुरुष पाप कर्मों को नाश करके पु य कर्मों को प्राप्त होता है। अपनी पूर्ण आयु भोगता है। उज्वल जीवन बिताता है, उसकी वंश परम्परा क्षीण नहीं होती। जो इस प्रकार जानकर उपासना करता है। उसका हम इस लोक में तथा परलोक में पालन करते हैं।

आदित्यलोक, चन्द्रलोक, विद्युत्लोक ये सब प्रकाशमय लोक हैं। आदित्य अग्नि स्वरूप ही हैं। अग्नि से अन्न होता है और अन्न से पृथ्वी। या यों कहो कि पृथ्वी पर अन्न होता है, उस अन्न को अग्नि पचाती है। अग्नि की उपासना से आदित्यलोक की प्राप्ति होती है। पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य इन सबका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जैसा अग्नि और आदित्य का सम्बन्ध है वैसा ही जल और चन्द्र का सम्बन्ध है। जल से ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। चन्द्रमा समस्त ओषधियों के राजा हैं। ओषधियों द्वारा अग्नि की उपासना करने से दिग्देवता नक्षत्र लोकों में होकर चन्द्रलोक को प्राप्त करा देते हैं। उसी प्रकार प्राण और विद्युत् का सम्बन्ध है। प्राण वायु स्वरूप ही है वह हृदयाकाश में रहता है, अग्नि की उपासना से प्राण, आकाश और विद्युत् द्वारा उपासक स्वर्ग को प्राप्त होता है।

पृथ्वी, अग्नि, अन्न, आदित्य, जल, दिशा, नक्षत्र, चन्द्र, प्राण, आकाश, स्वर्ग और विद्युत् ये अग्नि के ही शरीर हैं। इनमें जो तेज है वह अग्नि का ही तेज है। वह तेज ब्रह्म का ही है। ब्रह्मभाव से जिस अग्नि की जो उपासना करता है। उसे वह अग्नि अन्त में अपना लोक ही प्रदान करते हैं। ये लोक त्रैलोक्य के ही अन्तर्गत हैं। केवल अग्नि की ही उपासना से इन पुनरावर्ती लोकों की प्राप्ति होती है। इससे जन्म मरण का चक्कर निवर्त नहीं होता। इस उपासना से पाप क्षय होकर पुण्यलोकों की प्राप्ति होती है। यथार्थ ज्ञान वह है, कि जिसे जानकर पाप पुण्य का स्पर्श न हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब तीनों अग्नियों ने उपकोसल को प्राण और कं खं रूप में प्राण और आकाश का उपदेश दिया, तो ब्रह्मचारी इसे भली-भाँति समझ नहीं सका।

तब गार्हपत्याग्नि दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि इन तीनों ने उसे पृथक्-पृथक् उपदेश देना आरम्भ किया। सबसे पहिले जो आचार्य की गार्हपत्याग्नि है, जिसकी उपासना आचार्य नित्य नियम से करते थे। गृहपति जो यजमान है उसे संयुक्त होने के कारण ही जो गार्हपत्य नाम से विख्यात है, वह अग्निदेव अपने कुण्ड से बोले—"देखो, ब्रह्मचारी मेरे चार शरीर हैं।"

ब्रह्मचारी ने पूछा—"चार शरीर आपके कौन-कौन से हैं?"

तब गार्हपत्याग्नि ने कहा—"पृथ्वी मेरा शरीर है, अग्नि जो संसार में दीखती है वह मेरा शरीर है अन्न मेरा शरीर है और आदित्य मेरा शरीर है।"

ब्रह्मचारी ने पूछा—"इन चार रूपों में उपासना कैसे करें?"

अग्नि ने कहा—"जैसे शरीर में प्राण मुख्य हैं, वैसे ही हमारे शरीर में आदित्य मुख्य है। चारों को एक मानकर आदित्य में मेरी उपासना करे।"

ब्र०—"आदित्य में आपकी उपासना कैसे करे?"

गा० अग्नि ने कहा—"आदित्य को ध्यान से देखो, उसमें एक सुवर्ण वर्ण का परम तेजस्वी पुरुष दिखायी देगा, उसके बाल दाढ़ी मूँछ सभी सुवर्ण वर्ण के हैं। वह जो पुरुष दिखायी देता है। वह मैं हूँ, उसी को तुम गार्हपत्याग्नि मानकर उपासना करो।"

ब्र०—"उसकी उपासना का फल क्या है?"

गा० अ०—"इसके छै फल हैं। (१) इसका उपासक पाप कर्मों को नष्ट कर देता है, जो मोक्ष मार्ग के प्रतिबन्धक हैं। (२) पुण्य वृद्धि होने से उसे दिव्य अग्नि लोकों की प्राप्ति होती है। (३) वह अपनी आयु का सुख पूर्वक उपभोग करता (४) उसका जीवन उज्वल होता है और (५) उसकी वंश

नष्ट नहीं होती। उसकी सन्तान परम्परा में लोग क्षीण नहीं होते तथा (६) इस लोक में और परलोक में भी हम अग्नि उसका पालन करते हैं।

इस प्रकार उपदेश करके गार्हपत्याग्नि मौन हो गये।

इसके अनन्तर अन्वाहार्य पचनाग्नि-जो गार्हपत्याग्नि के दक्षिण भाग में स्थित रहने से दक्षिणाग्नि भी कहलाती है उसने शिक्षा देने के लिये उपकोसल से कहा—"ब्रह्मचारिन्! मैं तुम्हें शिक्षा दूँ?"

उपकोसल ने कहा—"दीजिये भगवन्!"

दक्षिणाग्नि ने कहा—"मेरे भी चार शरीर हैं।"

ब्र० ने पूछा—"वे कौन-कौन से शरीर हैं?"

दक्षिणाग्नि ने कहा—"एक शरीर मेरा जल है दूसरा दिशायें हैं, तीसरा नक्षत्र हैं और चौथा शरीर चन्द्रमा है।"

ब्रह्मचारी ने पूछा—"जल तो शीतल है, आप तो उष्ण हैं, जल आपका शरीर कैसे है?"

दक्षिणाग्नि ने कहा—"पुत्र में पिता का अंश रहता है या नहीं? पुत्र तो पिता की आत्मा ही माना जाता है। जल मुझसे ही तो उत्पन्न हुआ है, जल मेरा ही पुत्र है। फिर समुद्र के जल में भी तो मैं वाडवाग्नि के नाम से रहता हूँ। जठराग्नि जो उदर में रहती है वहाँ तो जल है। हिम-जमा हुआ जल ही तो है उस में भी मैं रहता हूँ। हिम शरीर को जला देता है।"

ब्र०—"फिर जल से आप बुझ क्यों जाते हैं?"

दक्षिणाग्नि—"आदमी सर्वत्र अपनी ही जय चाहता है, किन्तु पुत्र में पराजय में भी उसे सुख होता है। इसीलिये पुत्र के प्रवेश में बुझ-सा जाता हूँ। बुझकर कहीं चला थोड़े ही जाता हूँ, अदर्शन हो जाता हूँ। इस पर ग्रह, नक्षत्र, तारा, चन्द्रमा और

दिशायें ये मेरा ही रूप है। इन रूपों में मेरी उपासना करनी चाहिये।"

ब्र०—"इन रूपों में आपकी उपासना कैसे करें?"

दक्षिणाग्नि—"देखो, ध्यानपूर्वक देखने पर चन्द्रमा में एक पुरुष दिखायी देता है। वह मैं ही हूँ। वह मेरा ही रूप है। उसी रूप की निरन्तर चारों शरीर वाला मानकर मेरी उपासना करनी चाहिये।"

ब्र०—"इसका फल क्या है?"

दक्षिणाग्नि—"इसके भी वे ही ६ फल हैं जिसका वर्णन गार्हपत्याग्नि ने किया है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! दक्षिणाग्नि के उपदेश करने के अनन्तर आहवनीय अग्नि ने आकर उपदेश देने की इच्छा की। गार्हपत्याग्नि से उठाकर होम के लिये जिसका संस्कार किया जाता है, जिसमें घृतादि हवन किये जाते हैं उस अग्नि को आहवनीय अग्नि कहते हैं। (आहूयते—आज्यादिः अस्मिन्=इति)।

उस अग्नि ने कहा—"ब्रह्मचारिन्! मैं भी तुम्हे उपदेश करना चाहता हूँ।"

ब्र० ने कहा—"कीजिये भगवन्!"

आ० अग्नि ने कहा—"मेरे भी चार शरीर हैं।"

ब्र० ने कहा—"कौन-कौन से चार शरीर हैं?"

आ० अग्नि ने कहा—"मेरा पहिला शरीर प्राण है, दूसरा आकाश है, तीसरा स्वर्गलोक है और चौथा विद्युत है।"

ब्र० ने कहा—"वायु तो आपको बुझा देता है वायु आपका शरीर कैसे है?"

आ० अग्नि ने कहा—"वायु प्रज्वलित भी तो करता है, वायु

तो हमारा पिता है, उसका भी पिता आकाश है। हम सब एक ही हैं। एक रूप से हमारी उपासना करनी चाहिये।"

ब्र ने पूछा—"एक रूप से उपासना कैसे करें ?"

आ० अग्नि ने कहा—"विद्युत् को तुम ध्यान से देखो, उसमें एक पुरुष दिखायी देगा वह पुरुष मैं ही हूँ। विद्युत् मेरा ही स्वरूप भासमान होता है। उसी की उपासना करनी चाहिये।"

ब्र०—"उसकी उपासना का फल क्या है ?"

आ० अग्नि ने कहा—"वे ही ६ फल है जिनका गार्हपत्याग्नि के प्रसंग में किया जा चुका है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार गार्हपत्याग्नि अन्वाहार्यपचनाग्नि और आहवनीयाग्नि ये तीनों ही उपकोसल को उपदेश देकर विराम को प्राप्त हुईं। अब ... ब्रह्मवेत्ता की भाँति दमकने लगे। अब आगे का उपदेश उसके आचार्य करेंगे' उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

विद्युत में नर दिखै अग्नि आहवनी मैं हूँ।
करै उपासन पुरुष चतुर्थो अग्नी मैं हूँ ॥
सब अघ होवैं नाश लोक मेरे कूँ पावै।
करै आय सब भोग, विमल जीवन बनि जावै ॥
वंश क्षीण होवै नहीं, वंशज असमय नहिँ मरैं।
लोक और परलोक में, पालन हम सब तिहि करैं ॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय मे
एकादश खण्ड समाप्त

—०—

आचार्य द्वारा उपकोसल को उपदेश

[१६३]

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति ॥*

(छां० उ० ४ प्र० १४ खं० १ मं०)

छप्पय

अग्नि कहैं–हे सौम्य! सुनी यह विद्या हमतैं।
शेष मार्ग आचार्य आइकें कहिहैं तुमतैं॥
आये जब आचार्य कहैं–मुख ब्रह्मविज्ञ सम।
अग्नि दयो उपदेश कहैं गुरु और कहैं हम॥
लोकनि को उपदेश ही, अग्निनि ने दीयो तुमहि।
उपदेशू अघ परस नहिं–करें पद्म जल ज्यों रहहि॥

एक तो पाप करके उस पाप को साधनों द्वारा धो देना, दूसरे इस ढँग से कार्य करना कि पाप लगने ही न पावें। इनमें से अन्तिम मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है। वस्त्रों में पहिले कीचड़ लगाकर उसे

---

* अग्नियों ने ब्रह्मचारी से कहा—"सौम्य उपकोसल! ये हमारी अपनी विद्या और आत्मविद्या हमने, तुमसे कही। तुम्हारे आचार्य शेष गति को बतावेंगे। तदन्तर विदेश से उसके आचार्य आ गये।" आचार्य ने कहा—"उपकोसल?"

जल आदि से धोकर स्वच्छ कर लेने की अपेक्षा उत्तम तो यही है, कि वस्त्रों मे कीचड लगने ही न दे। आप पूछेंगे, हमें तो कीचड के ही मार्ग से चलना होता है कीचड से बच कैसे सकते हैं। ससार मे रहकर पापो से बचा कैसे जा सकता है ? इसका उत्तर यही है, कि युक्ति के द्वारा सभी सभव है। एक प्रकार औषधि होती है, उसे हाथ मे लेपन करके तब अग्नि को हाथ उठाओ, हाथ जलेंगे नहीं। मार्ग मे स्थान-स्थान पर कीचड़ हो, तो वस्त्रों को ऊपर उठाकर शनै. शनै. सावधानी से निकल जाओ, आपके कपडों मे कीच नहीं लगेगी। कमल तो जल से ही उत्पन्न होता है, जल ही में रहता है, किन्तु सदा जल से ऊपर उठा रहता है। उस पर जल डाल दो तो लुढक जायगा। कमल की बेल कितने भी कम पानी वाले कुड में हो उसमें ऊपर तक कितना भी अधिक पानी भर दो। उसके पत्ते जल से ऊपर ही आ जायँगे जल में डूबे नहीं रहेंगे। जैसे पद्मपत्र जल में रहता हुआ जल से पृथक् रहता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी ससार में रहता हुआ भी ससारी पुण्य पापों से पृथक् ही बना रहता है। कर्ता हुआ भी अकर्ता ही बना रहता है। उसके भीतर जो ज्ञान की सदा ज्योति जलती रहती है, वह शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों को भस्मसात् करती रहती है। वह पाप पुण्य दोनों से ही निर्लिप्त बना रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! उपकोसल पर आचार्य की तीनों अग्नियों ने कृपा करके उसे उपदेश दिया। उपकोसल ने जब अग्नियों से निवेदन किया कि–'मुझे और भी उपदेश करें' तब अग्नियों ने उससे कहा—"ब्रह्मचारी ! देखो, सौम्य ! हम पर जो अपनी विद्या थी और जिसे हम आत्मविद्या मानते थे, उसका उपदेश तो हमने तुम्हें कर दिया। अब इसमें कुछ अवशेष रह

गया होगा, उसे तुम्हारे आचार्य पूरा करेंगे। शेष मार्ग का प्रदर्शन गुरुदेव करेंगे।" ऐसा कहकर अग्नि शान्त हो गये।

कालान्तर में आचार्य लौटकर आये। आकर उन्होंने देखा, उपकोसल का मुखमंडल दम-दम दमक रहा रहा है। उसके मुखमंडल पर ब्राह्मीश्री विराजमान है। उन्होंने प्रणाम करके नम्रता पूर्वक अपने शिष्य को सम्मुख खड़े देखकर प्रेमपूर्वक पुकारा—"उपकोसल सौम्य!"

अत्यन्त ही नम्रता के साथ उपकोसल ने उत्तर दिया- "हाँ, भगवन्! क्या आज्ञा है?"

आचार्य ने कहा—"मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ?"

नम्रता से नतकंधर हुए ब्रह्मचारी ने सरलता के साथ कहा—"आज्ञा करें भगवन्!"

आचार्य ने कहा—सौम्य! तुम्हारे मुख पर दिव्यतेज छिटक रहा है। तुम्हारे मुखमंडल की आभा ब्रह्मवेत्ता के सदृश प्रतीत हो रही है। तुम सत्य बताओ। मैंने तो तुम्हें ब्रह्म का उपदेश किया नहीं। तुम्हारी आकृति से तुम ब्रह्मज्ञ से लग रहे हो, तुम्हें उपदेश किसने दिया है?"

ब्रह्मचारी ने कहा—"भगवन्! आपके अतिरिक्त मुझे उपदेश करने वाला दूसरा है ही कौन?"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! उपकोसल ने गुरु का गौरव बढ़ाने के निमित्त बात को छिपाना चाहा, किन्तु पीछे उसने सोचा-गुरु से कपट नहीं करना चाहिये, किसी व्याज से भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिये। गुरु के सम्मुख सब सत्य-सत्य बात कह देनी चाहिये।" यही सब सोचकर उसने कहा—"भगवन्! इन आपकी अग्नियों ने ही मुझे उपदेश दिया है।"

आचार्य ने आश्चर्य के सहित कहा—"अग्नियों ने ! अग्नियं कैसे उपदेश कर सकती हैं ?"

ब्रह्मचारी ने सरलता किन्तु दृढ़ता के साथ कहा— भगव आप माने चाहें न मानें, किन्तु मैं सत्यता के साथ निश्चय ही इन्हीं आपकी अग्नियो ने मुझे उपदेश दिया है।"

आचार्य ने कहा—"ये अग्नि तो कुण्डों मे प्रज्वलित हो हैं। इन्होने किस भाँति किया ?"

उपकोसल ने कहा—"हाँ भगवन् ! इन्हीं अग्नियों ने दिया है। अब ये इस प्रकार कुण्डों में प्रज्वलित हो रहीं हैं। देश काल मे ये अन्य प्रकार की थी। उस समय देवरूप इन्होने मुझे उपदेश किया था।"

आचार्य ने पूछा—अच्छा बताओ, अग्नियों ने तुम्हे उपदेश दिया है ?"

इस पर उसकोसल ने कहा—गार्हपत्याग्नि ने पृथ्वी, अ अन्न और आदित्य इन चारो को अपना शरीर बताकर न्तर्गत पुरुष को अपना रूप बताकर उसकी उपासना बतायी।

दक्षिणाग्नि (अन्वाहार्यपचनाग्नि) ने जल, दिशा, नक्षत्र चन्द्रमा को अपने चार शरीर बताकर चन्द्रमान्तर्गत पुरुष अपना रूप बताकर उसकी उपासना बतायी और आहवनीया ने प्राण, आकाश, द्युलोक तथा विद्युत् को अपने चार शरीर कर विद्युत अन्तर्गत पुरुष को अपना रूप बताकर उसकी उपास का उपदेश दिया।"

आचार्य ने पूछा—"तीनों ने इन उपासनाओं का फल बताया ?"

उपकोसल ने कहा—"फल तीनों ने ही एक से बत तीनों ने फल बताते हुए यही कहा, कि इस प्रकार उपा

से (१) पापकर्म नष्ट हो जायँगे। (२) पुण्य लोकवान् बन जाओगे (३) पूर्ण आयु प्राप्त करोगे (४) उज्वल जीवन व्यतीत होगा। (५) वंश परम्परा क्षीण न होगी और (६) हम इस लोक और परलोक में भी तुम्हारा पालन करेंगे।" इस प्रकार उपदेश करके अन्त में यह भी कह दिया, शेष उपदेश "तुम्हारे आचार्य तुम्हें करेंगे।" सो, भगवन्! जब तक इन उपदेशों पर आपकी छाप न लगेगी, तब तक मुझे सन्तोष न होगा।"

हँसकर आचार्य ने कहा—"वत्स! तुम्हारा कहना यथार्थ, है। अग्नियों ने तुम्हें उपदेश उत्तम किया, किन्तु वह अधूरा ही उपदेश है। उन्होंने तुम्हें केवल पुण्यलोकों की प्राप्ति का ही उपदेश दिया है। पुण्य लोकों की प्राप्ति कब होगी, जब उन लोकों के अन्तराय रूप पाप कर्म नष्ट हो जायँगे। इस उपासना का फल पाप कर्मों का नष्ट होना ही है। मैं तुम्हें ऐसा उपदेश करूँगा, जिसे जानकर पाप कर्मों से उसी प्रकार पृथक् रहा जा सकता है, जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमलपत्र उससे पृथक् रहता है। कमलपत्र का जल में रहने पर भी जल का सम्बन्ध नहीं होता।"

विनम्रता के साथ दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधे हुए उपकोसल ने कहा—"भगवन्! उस उपदेश को आप मुझे अवश्य करें।"

तब आचार्य ने कहा—"मैं तुम्हें सरल साधन बताता हूँ। एक दर्पण लो। उसमें अपना प्रतिविम्ब देखो, तुम्हें अपनी आँखों के भीतर एक पुरुष बैठा दिखायी देगा, वही आत्मा है।"

उपकोसल ने कहा—"भगवन्! वह तो अपना ही प्रतिविम्ब है।"

आचार्य ने कहा—"प्रतिविम्ब तो विम्ब का ही होता है। विम्ब के बिना प्रतिविम्ब कैसे दीखेगा। वह विम्ब ब्रह्म ही है।

उसी आत्मस्वरूप बिम्ब का ध्यान करो। यह कभी मरता नहीं, अमृत है। मनुष्य सबसे भयभीत होता है, अपने से भयभीत नहीं होता। दूसरों के सम्मुख नग्न होने में उसे लोकापवाद का भय रहता है, किन्तु अपने आप से कोई भय नहीं खाता। एकान्त में जब कोई न हो अपना अकेला ही हो निर्भय होकर अनावृत हो जाता है। यह अपनी आत्मा ही ब्रह्म है। वह नेत्र में रहता है, दृष्टि में रहता है, दृष्टि में ही समस्त सृष्टि करता है। फिर भी सृष्टि में लिप्त नहीं होता। उसकी बात तो छोड़ दो, जिन आँखों में वह रहता है, उन आँखों में आप घृत तैल, जल छोड़ो तो जैसे पद्म-पत्र पर पड़ा पानी इधर-उधर ढुलक जाता है, उसी प्रकार आँखों में पड़ा घृत, जल आदि आँखों के शीशा में नहीं रहता। पलकों में जाकर इधर-उधर ढुलक जाता है। जब ब्रह्म के रहने के स्थान को जलादि स्पर्श नहीं कर सकते। जब वह सबसे निर्लेप सम्बन्ध रहित बना रहता है, तो उस परम पुरुष की निःसङ्गता के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या। इसलिये नेत्रस्थ पुरुष की उपासना करनी चाहिये। इस पुरुष की उपासना से पाप स्पर्श भी नहीं कर सकता।

उपकोसल ने पूछा—"इस उपासना का नाम क्या है ?"

आचार्य ने कहा—"इसे 'संयद्वाम' उपासना के नाम से पुकारते हैं।"

उपकोसल ने पूछा—"इसे संयद्वाम क्यों कहते हैं। और इस उपासना के करने का फल क्या है। इस उपासना के करने वाले की गति कैसी होती है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब आचार्य जैसे संयद्वाम उपासना के सम्बन्ध में समझावेंगे तथा ब्रह्मवेत्ता की गति का वर्णन करेंगे, उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

जिज्ञासा बटु करी, कहें गुरु-नेत्र पुरुष जो।
अमृत अभय है वहा रहै निःसंग सदा सो॥
घृत जल डारो आँखि, चल्यो पलकनि में जावै।
ताहि वामनी कहें सु संयद्वाम कहावै॥
सेवनीय जो वस्तु सब, लोक और परलोक तें।
तातैं संयद्वाम सों, प्राप्त होहिं सब ओर तें॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
चतुर्दश खण्ड समाप्त।

—:—

संयद्वाम उपासना तथा ब्रह्मवेत्ता की गति

(१६४)

एतँ संयद्वाम इत्याचक्षत एतँ हि सर्वाणि वामान्यभिसयन्ति सर्वाण्येनं वामान्यभिसयन्ति य एवं वेद ॥*

(छा० उ० ४ अ० १५ ख० २ मं०)

छप्पय

सभजनीय हु वाम वही शोभन कहलावे।
सबहिँ प्राप्त तिहि होहिँ वाम सयदहु कहावै॥
पुण्य करम फल वहन करै तिहि कहें वामनी।
वाम वहन सब करैं, सु-साधक इच्छा अपनी॥
भासमान सब लोक में, ताहि भामिनी हू कहत।
भासमान साधक सदा-रहत कहूँ गति ब्रह्मवित॥

सत् एक ही है, वेदज्ञ विद्वान् उस सत् को बहुत नामों से, बहुत प्रकार से कथन करते हैं। यद्यपि ब्रह्म अकर्ता, निर्गुण, निरा-

---

* उपकोसल ब्रह्मचारी के आचार्य उस ब्रह्म का उपदेश करते हुए कहते हैं—"इस उपासना को सयद्वाम भी कहते हैं, क्योंकि इसे सब ओर से सम्पूर्ण सेवनीय सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं। जो साधक इस विषय को भली भाँति जानता है उसे भी सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सभी ओर से प्राप्त होने लगती हैं।

कार, अनादि, अविनाशी, नित्य निरञ्जन, चैतन्यघन है। तथापि वह लीला के लिये, लोक संग्रह के लिये, जीवों के कर्म फलों को भुगावे के लिये, साधन साध्य को समझाने के लिये एक से बहुत बन जाते हैं। बिना द्वैत के उपासना संभव ही नहीं। साधन बन ही नहीं सकते। साधन के लिये साधक भी चाहिये और साध्य भी। उपासना के लिये उपासक भी आवश्यक है और इष्टदेव उपास्य भी। इसीलिये पीछे ऐतरेय उपनिषद् में इस बात को विस्तार के साथ बता आये हैं कि उन परब्रह्म निर्गुण निराकार परमात्मा ने अम्भ, मरीचि, मर और आप इन चार प्रकार के लोकों की रचना की। अम्भ पानी को भी कहते हैं। चौथी संख्या को भी कहते हैं, सार को भी स्वर्गलोक से ऊपर के ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने लोक हैं अम्भ प्रधान होने से तथा भू, भुवः और स्वः इन तीन से ऊपर चौथे लोक होने से अम्भ लोक कहलाते हैं। मरीचि सूर्य का नाम है सूर्य अन्तरिक्ष में विचरण करते हैं, अतः पृथ्वी और स्वर्ग के बीच के अवकाश को मरीचि लोक कहते हैं। जीवों की मृत्यु पृथ्वी पर ही होती है, अतः पृथ्वी को मृत्यु लोक मर्त्य लोक अथवा मर लोक कहते हैं। पृथ्वी के नीचे जो अतल वितल सुतलादि सात लोक हैं, वे भू विवर कहलाते हैं। आप अर्थात् जल प्रधान होने से ये आप लोक कहलाते हैं। अर्थात् सात नीचे के अपलोक-एक मर या मृत्यु लोक, एक मरीचि या स्वर्ग लोक और मह, जन, तप, तथा सत्यलोक ये चार लोक ऐसे चौदह भुवनों को परमात्मा ने बनाया इन सब लोकों को बनाकर भगवान् इन्हीं में प्रवेश कर गये। अर्थात् श्रीहरि जैसे बीज वृक्ष रूप में परिणत हो जाता है [illegible] प्रकार परब्रह्म परमात्मा जगत् रूप में परिणत हो गये। जब वृक्ष बन जाता है तब स्वयं नष्ट हो जाता है, किन्तु

जगत् बनने पर भी अपने उसी निर्विकार रूप में अवस्थित रहते हैं उनका अपना निजी रूप भी बना रहता है और जगत् में भी तदाकार हो जाते हैं। उपासक उस जगत् मे से उन्हें खोजता है। उसे ही साधना, उपासना, अनुष्ठान, आदि कहते हैं। उस ब्रह्म को पाने के अनेकों मार्ग हैं। जिन्हें पन्था, अध्वा, मार्ग आदि कहते हैं। उनके गुण कर्मानुसार अनेक नाम हैं। लीला के अनुसार अनेक रूप हैं। अनेक नाम, रूप साधनों मे विभक्त से होने पर भी वास्तव मे वे एक हैं। जो उनके उस यथार्थ रूप को जान लेता है, वह संसार मे रहने पर भी संसार से लिप्त नहीं होता। दुःखालय और अशाश्वत जगत् के मध्य में भी जो मर तथा भययुक्त है उसमें सुखस्वरूप शाश्वत ब्रह्म को जानकर अमृत और अभय हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उपकोशल ने जब 'संयद्वाम' शब्द का अर्थ तथा ब्रह्मवेत्ता की गति के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तब आचार्य सत्यकाम जाबाल ने उसे उत्तर देते हुए कहा—"वत्स! ब्रह्म को 'संयद्वाम' भी कहते हैं। संयद्वाम शब्द संयद् और वाम इन दो शब्दों को मिलाकर बना है। संयद् का अर्थ है। सम्यक् प्रकार से यत् अर्थात् प्राप्त हो रहे हैं। वाम अर्थात् प्रार्थनीय सुन्दर पदार्थ। जिसे सभी ओर से सभी प्रकार सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त होती हों, उसे 'संयद्वाम' कहते हैं। केवल सत्य संकल्प परब्रह्म परमात्मा को ही इच्छानुसार-केवल संकल्प मात्र से ही—सब वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। इसी कारण परब्रह्म परमात्मा का ही नाम 'संयद्वाम' है। जो उस संयद्वाम पुरुष को भली-भाँति जान लेता है, ऐसा साधक भी संयद्वामवत हो जाता है, उसे भी सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सब ओर से प्राप्त होती हैं। उसी संयद्वाम को वामनी भी कहते हैं।

उपकोसल ने पूछा—"उसे वामनी क्यों कहते हैं ?"

आचार्य ने कहा—"वाम और नी दो शब्द हैं। वाम शब्द का अर्थ तो प्रार्थनीय-शोभनीय-वननीय-सम्भजनीय बता ही चुके हैं। नी का अर्थ प्राप्त कराने वाला। जो समस्त वामों का-शोभनीय सुन्दर वस्तुओं को अपने आश्रितों को-भक्तों को-उपासकों को-प्राप्त कराता है। जो सभी इच्छित पदार्थों का प्रापक है, नेता है, पहुँचाने वाला है वही वामनी हैं। जो साधक वामनी भाव से उस परब्रह्म की उपासना करता है। वह भी सम्पूर्ण सुन्दर वस्तुओं का वहन करने वाला दूसरों को प्राप्त कराने वाला बन जाता है। इसीलिये वह वामनी है।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो ! परब्रह्म परमात्मा का नाम भी वामनी है और बद्रीनाथ जो उनका स्थान है उस स्थान का भी नाम वामनी है। बद्रीनाथ से सटा कांचन गंगा के पास वामनी नाम का एक गाँव है। वहाँ भी भगवान् ने रहकर सर्वसाधारण भक्तों के लिये बदरीधाम जो परम शोभनीय सम्भजनीय है। सबके लिये सुलभ कर दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"बदरीनाथ के गाँव का नाम वामनी क्यों है ? वह पहले दुर्लभ क्यों था भगवान् ने उसे सर्वसाधारण के लिये सुलभ क्यों कर दिया ? कृपया इस कथा को हमें सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! श्रीमन्नारायण की समस्त लीलायें जीवों के कल्याणार्थ ही होती हैं, वे जीवों को सुख पहुँचाने के लिये ही समस्त चेष्टायें करते हैं।"

पहिले गन्धमादन का दिव्य वन भगवान् भूतनाथ की क्रीड़ा की ही स्थली थी। शिव और शिवा ही वहाँ क्रीड़ा किया करते थे, अन्य प्राणियों का उस पुण्यप्रद परमपावन अति रमणीय स्थल में प्रवेश नहीं था। शिवजी ने पार्वती जी की प्रसन्नता के

निमित्त यह नियम कर दिया था कि इस प्रदेश में जो भी पुरुष-जातीय प्रवेश करेगा वह स्त्री हो जायगा। अतः वहाँ कोई भी पुरुष नहीं जाता था। भूल से कोई चला भी जाता, तो वह स्त्री हो जाता। अतः पुरुषों के लिये वह प्रदेश अवरुद्ध था। भगवान् ने सोचा—"ऐसा सुन्दर पुण्यप्रद प्रदेश, पुरुष यहाँ प्रवेश नहीं कर सकते। पुरुषों को इसे कैसे प्राप्त कराऊँ। यही सोचकर परमात्म देव वामन– छोटे बच्चे–बनकर रोने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वह छोटा बच्चा बच्ची क्यों नहीं बन गया?"

हँसकर सूतजी ने कहा—महाराज! चार पाँच वर्ष तक का बच्चा हो या बच्ची सब बच्चे ही कहलाते हैं। फिर देवता न तो स्त्री लिंग हैं, न पुलिंग। ये ठहरे देवाधिदेव अतः ये बच्चे ही बने रोते रहे।"

शौनकजी ने पूछा—"फिर क्या हुआ?"

सूतजी ने कहा—"पार्वती सहित शिवजी उधर से स्नान को जा रहे थे। बच्चे को रोता देखकर पुत्रवत्सला माँ पार्वती रुक गयी। शिवजी ने बहुत मना किया, इस कपट बच्चे को बहुरूपिया ठगिया बताया, किन्तु माँ जगजम्बिका न मानीं। उन्होंने बच्चे को उठाकर गोद में ले लिया। पूछा—बेटा क्यों रोते हो? क्या चाहते हो?"

बनावटी बालक बोला—"माँ! मैं यहाँ रहना चाहता हूँ।"

माँ ने कहा—"रहो, बेटा! तुम्हारा स्थान है? यह सुनते ही चतुर्भुज विष्णु प्रकट हो गये।"

शिवजी ने कहा—"देखो, इस वामन बटु की चतुराई। अब यह स्थान तो इनका हो गया। अब यहाँ से अपना झोलाडंडा उठाकर कहीं दूसरे स्थान पर डेरा जमाओ। तब से विशालापुरी

में बदरीनाथ रहने लगे शिवजी ने अपने वहाँ से ढाई कोश दूर दूसरे शिखर पर अपना आसन जमाया, जो केदारनाथ के नाम से विख्यात है। अपना पूर्वाधिकार शिवजी ने फिर भी नहीं छोड़ा विशाला नगरी में वे आदि केदार नाम से रहते हैं। वामन ने यह भूमि सर्व साधारण के लिये सुलभ करायी इसलिये उस गाँव का नाम अभी तक वामनी विख्यात है। नारायण का भी नाम वामनी है।" आचार्य कह रहे हैं—"जैसे उनका नाम संयद्वाम वामनी है, वैसे ही उनका नाम भामिनी भी है।"

उपकोसल ने पूछा—"उन परब्रह्म परमात्मा का नाम भामनी क्यों है ?"

आचार्य ने कहा—"भामनी शब्द भी भाम और नी इन दो शब्दों से बना है। भाम का अर्थ दीप्ति है। जो व्याप्तिवान् हो सम्पूर्ण लोकों को–चौदहों भुवनों को–जो अपनी दीप्ति से भासमान प्रकाशमान्–करता हो। जो उपासक भामनी भाव से ब्रह्म की उपासना करता है। वह सम्पूर्ण लोकों में भासमान–दीप्तिवान्–प्रकाशवान् हो जाता है। अतः लोकों की प्राप्ति की इच्छा से उपासना करने की अपेक्षा लोकों को प्रकाशित करने वाले लोकाध्यक्ष परब्रह्म की उपासना सर्वश्रेष्ठ है। ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी पुरुष को उन्हीं की उपासना करनी चाहिये। उन्हीं की उपासना से अमृत्व तथा अभय पद की प्राप्ति होती है ?"

उपकोसल ने पूछा—"ऐसे ब्रह्मवेत्ता की गति क्या होती है ? उसे किन लोकों की प्राप्ति होती है ?"

आचार्य ने कहा—"देखो, बेटा ! जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता तब तक देह गेह तथा मृतक होने पर अंतिम संस्कार और्ध्व दैहिक कर्मों की भी चिन्ता बनी रहती है। जब परिपक्व ज्ञान जाता है, तो उस ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी की हृदय ग्रन्थि खुल जा।

उसके समस्त सशय छिन्न भिन्न हो जाते हैं। फिर शरीर के मृत होने पर उसके शव को चाहे कोई अग्नि में जलावे अथवा न जलावे, जल प्रवाह करे, चाहे न करे। भूमि में गाड दे या वैसे ही पडा रहने दे। उसका सस्कृत या असस्कृत शव उसकी गति में किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं डाल सकता। उसे अर्चि अभिमानी देवता अर्चिलोक को ले जाते हैं, फिर अपने पडाव तक जहाँ तक उनकी गति है, वहाँ तक ले जाकर दिवस के अभिमानी देवता को सौंपकर लौट आते हैं। दिवसाभिमानी देवता अपने अधिकार की सीमा तक पहुँचाकर शुक्ल पक्ष के अभिमानी देवताओं को सौंप आते हैं, वे अपनी सीमा की परिधि तक पहुँचाकर उत्तरायण के अभिमानी देवता को सौंपकर चले आते हैं। उत्तरायणाभिमानी देवता उसे सवत्सर अभिमानी देवता की सीमा पर पहुँचाकर उन्हें सौंपकर लौट आते हैं। सवत्सराभिमानी देवता आदित्य तक पहुँचाते हैं, आदित्य वाले चन्द्रलोक तक, चन्द्रलोक वाले विद्युतलोक तक पहुँचाते हैं। विद्युतलोक तक उसका सूक्ष्म शरीर मानुष भावापन्न ही रहता है। फिर वह अमानुष भाव को प्राप्त होता है। अतः अमानव पुरुष उसे ब्रह्म को प्राप्त करा देते हैं। इसे अर्चिमार्ग, देवमार्ग तथा ब्रह्म मार्ग कहते हैं। इस मार्ग से जाने वाले साधक पुरुष पुनः मानव मण्डल में—मनुष्य लोक में—लौटकर नहीं आते। कभी भी लौटकर नहीं आते। इसी को क्रम मुक्ति मार्ग भी कहते हैं। ब्रह्मवेत्ता का यही गति वेदों में वर्णित है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार आचार्य सत्यकाम जाबाल ने अपने प्रिय शिष्य कामलायन उपकोशल को ब्रह्म का उपदेश दिया। अपने गुरु के द्वारा ब्रह्मविद्या प्राप्त करके उपकोशल कृतार्थ हो गया। यह मैंने आपसे उपकोशल के माध्यम

से ब्रह्मविद्या का वर्णन किया। अब आगे यज्ञ द्वारा कैसे उपासना की जाती है, इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

ब्रह्मज्ञानयुत पुरुष करम-शव होई न होवे।
अर्चिलोक कूँ प्राप्त दिवस पक्षहु पुनि जोवे॥
पाके उत्तर- अयन फेरि सवत्सर आवे।
रवि, शशि, विद्युत् लोक अमानव पुनि पहुँचावे॥
ब्रह्म प्राप्त करवाइ के, आवागमन मिटातु है।
ब्रह्म मार्ग क्रम मुक्ति को, पुनि नहिँ आवत जातु है॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
पन्द्रहवाँ खण्ड समाप्त।

—❀—

पवन को यज्ञ मानकर उसकी उपासना

[१६५]

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निद ँ सर्वं पुनाति। यदेष यन्निद ँ सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी ॥*

(छा० उ० ४ प्र० १६ ख० १ मं०)

छप्पय

यज्ञ पवन ही कह्यो चलत नित करत जगत शुचि।
मार्ग तासु द्वै कहे वाक् मन करें यथारुचि॥
ब्रह्मा मन संस्कार करैं त्रय ऋत्विज् वाकहि।
प्रथम प्रातरनुवाक ऋचा परिधानी या इहि॥
उच्चारन के पूर्व ही, बोलि उठे ब्रह्मा वहाँ।
एक मार्ग संस्कार करि, अपर मार्ग नासत तहाँ॥

यज् धातु देवपूजा, संगतिकरण, दान आदि अनेक अर्थो प्रयुक्त होती है। एक आचार्य ने यज्ञ की व्याख्या करते हु बताया है, कि-फलाभि सन्धि रहित भगवद् आराधना के रूप में उ

---

* यह निश्चय ही प्रसिद्ध बात है, कि जो यह पवन चलता है वह यज्ञ है। यह चलते हुए इस सम्पूर्ण संसार को पावन बनाता है। गमन करने से पावन करने के कारण ही इसकी यज्ञ संज्ञा है, इसके दो मार्ग हैं जिन्हें वर्तनी कहते हैं। वे हैं मन और वाक्।

महायज्ञादि अनुष्ठान किये जायँ, उन सबकी 'यज्ञ' संज्ञा है। इस प्रकार जो देवताओं की पूजा की जाती है, वह यज्ञ ही है। देवताओं की कोई संख्या नहीं। तैंतीस कोटि देवता बताये गये हैं, किन्तु वेदों में कुछ विशिष्ट-विशिष्ट देवों के नामों का उल्लेख किया गया है। उनकी पूजा का नाम भी यज्ञ है। जैसे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, आठ वसुगण, ग्यारह रुद्रगण, बारह आदित्यगण, उनचास मरुद्गण, दस विश्वेदेवा, देवताओं के गुरु बृहस्पति, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, तथा त्रिदेव आदि-आदि यज्ञों में इन देवताओं की पूजा होती है। उपासना में यज्ञ के अङ्गों की भगवान् के अङ्गों के साथ समता करके भगवान् को अङ्गी मानकर सब कर्मों को उनका अङ्ग मानकर आराधना की जाती है। एक यज्ञ होता है और दूसरी यज्ञों की वर्तनी होती है। जिनके द्वारा यज्ञ विस्तारित होकर प्रवृत्त होता है, उसे वर्तनी कहते हैं। वर्तनी का अर्थ हुआ मार्ग अथवा पन्था। सत्कर्मों का पहिले मन से चिंतन किया जाता है। मन में ऊहापोह होती है, यह देव पूजनादि यज्ञ हमें करना चाहिये जब बुद्धि से निश्चय हो जाता है, तो वाणी द्वारा उसका कथन किया जाता है। यहाँ मन से अन्तःकरण चतुष्टय को समझना चाहिये और वाणी से समस्त इन्द्रियों को। इसीलिये इस वायु—प्राण—अपान—रूप यज्ञ के मन और वाक् ये दो पथ हैं, मार्ग हैं। इन्हीं द्वारा यज्ञ सम्पन्न होता है। इसी क्रम में यज्ञ की एक क्रिया का भी उल्लेख कर दिया है, कि ब्रह्मा जो यज्ञों में प्रधान ऋत्विज् है, वह यज्ञों के कर्मों को करता नहीं केवल द्रष्टा बनकर कर्मों को देखता भर रहता है। वह बोलता नहीं। यदि यज्ञ के कर्म विशेष के पहिले वह बोल पड़ता है, तो यज्ञ में विघ्न पड़ जाता है। इसलिये वायु रूप में यज्ञ की उपासना का वर्णन किया जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यज्ञ ही मुख्य कर्म है। यज्ञ ही विष्णु है। यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ सम्पन्न होते हैं। अतः यज्ञ ही कर्म है, यज्ञ ही कर्ता है और यज्ञ ही उस कर्म का फल है। अतः यज्ञ कर्म को ही यज्ञ की प्राप्त के लिये करते रहना चाहिये।"

भगवती श्रुति कहती है। यह जो पवन बहता रहता है चलता रहता है प्रवाहित होता रहता है। यह यज्ञ है। इस वायु की यज्ञ रूप में उपासना करनी चाहिये। यह पवन वायु रूप से बाहर बहता रहता है और प्राण अपान रूप से शरीर में से निरन्तर निकलता और प्रवेश करता है। सबको पवित्र करता रहता है। इसी से इसका नाम पवन है। (पुनाति+इति=पवन।) देखिये राजपथ पर पत्ते आदि पड़े रहते हैं, पवन उन्हें वहाँ से हटाकर पथ को परिष्कृत-पावन करता है। कोई वस्तु पृथ्वी पर सड़ गयी हो, वायु उसकी दुर्गन्ध को बहाकर ले जाता है। शरीर में जो अशुद्ध द्रव्य हैं उन्हें वायु ऊपर नीचे से बाहर फेंकता रहता है। सारांश यह है कि यह पवन ही शरीर के भीतर से बाहर से सबको पावन बनाता रहता है। अतः यह पवन यज्ञ स्वरूप है। समस्त संसार को पावन बनाने वाला है। इसके दो मार्ग हैं, दो पन्था हैं। एक वाणी रूप में वाह्यकरण—समस्त वाह्य इन्द्रियाँ और एक मन रूप में—अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इन दो मार्गों द्वारा इन दो वर्तनियों द्वारा ही यह वायु रूप यज्ञ को सम्पन्न करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"मन और वाक् ये दो वर्तनी-मार्ग-पन्था-कैसे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"देखिये भगवन् ! यज्ञ से यज्ञमय देव-विष्णु-की प्राप्ति होती है। विष्णु की प्राप्ति का साधन यज्ञ है। इसीलिये वायु ही यज्ञ का प्रारम्भक है। वायु न हो तो अग्नि

प्रज्वलित ही न हो। वायु द्वारा अग्नि प्रज्वलित करके ही तो यज्ञ का प्रारम्भ किया जाता है। और वायु ही यज्ञ की प्रतिष्ठा है। अर्थात् यज्ञ वायु में ही रहता है, अतः वायु ही यज्ञ है। इसीलिये यज्ञ में यजमान प्रार्थना करता है—"हे चित्त के प्रवर्तक देव ! इस यज्ञ को स्वाहा के साथ आपको देता हूँ, समर्पण करता हूँ। आप इसे वायु में प्रतिष्ठित कर दें।" अर्थात् यज्ञ की प्रतिष्ठा वायु ही है।"

भीतर से जो वायु नाक मुख द्वारा निकलती है, उसकी प्राण संज्ञा है, वाहर की वायु जो नाक मुख द्वारा शरीर के भीतर प्रवेश करती है, उसकी अपान संज्ञा है। प्राण और अपान के संयोग से मन और वाणी का जो परिचलन होता है, उसी का नाम यज्ञ है। यज्ञ कर्ता पहिले मन से सोचता है वाणी द्वारा–तथा अन्य इन्द्रियों द्वारा–उसे व्यक्त करता है–कार्य रूप में परिणत करता है। अतः मद और वाणी वायु रूप यज्ञ की वर्तनी हैं उसे सम्पन्न करने के मार्ग हैं। इसीलिये पहिले वाणी का संयम करना चाहिये, फिर मन का संयम करना चाहिये। बिना मन वाणी का संयम किये समाधि रूप यज्ञ सम्पन्न नहीं होगा। वाणी के संयम के लिये नियत समय तक मौन की आवश्यकता है। वाणी का संयम किये बिना कार्य की सिद्धि हो नहीं सकती। वाणी और मन दोनों का ही संयम न हो, तब तो सर्वनाश निश्चित ही है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मौन और यज्ञ से क्या सम्बन्ध ? यज्ञों में तो ऋत्विज् मन्त्रों का उच्चारण करते ही रहते हैं।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! आप सब जानते हैं। लोकहितार्थ ऐसे प्रश्न आप कर देते हैं। बात यह है, कि यज्ञों में चार ऋत्विज् प्रधान होते हैं और सब तो उनके सहायक

ऋत्विज् हुआ करते हैं। जो ऋक्वेद का ज्ञाता ऋत्विज् है, उसे 'होता' कहते हैं। जो यजुर्वेद का ज्ञाता ऋत्विज् है, वह 'अध्वर्यु' कहलाता है, जो सामवेद का ज्ञाता सामवेद का गायन करता है उसको 'उद्गाता' संज्ञा है और जो अथर्व वेद के सहित अन्य तीनों वेदों का भी ज्ञाता है उसकी 'ब्रह्मा' संज्ञा है। होता, अध्वर्यु और उद्गाता ये तो मन्त्रों का उच्चारण करते हैं, किन्तु ब्रह्मा मौन रहकर इन सबके कर्मों का साक्षी भाव से परिवेक्षण करता रहता है। स्थाणु की भाँति चुपचाप बैठकर देखता रहता है। यज्ञ में मनोलक्षण मार्ग और वाणी लक्षण मार्ग दो मार्ग हैं। अर्थात् कुछ ऋत्विज् मनोलक्षण मार्ग से यज्ञ कर्मों का संस्कार करते हैं कुछ वाणी लक्षण मार्ग से संस्कार करते हैं। इनमें जो अथर्वादि चारों वेदों का ज्ञाता 'ब्रह्मा' नाम वाला ऋत्विज् है, वह वाणी से न बोलकर मनके ही द्वारा—मनोलक्षण मार्ग द्वारा—ही कर्मों का संस्कार करता है। उसके अतिरिक्त जो होता, अध्वर्यु और उद्गाता ये तीन मुख्य ऋत्विज् हैं, वे वाणी लक्षण मार्ग द्वारा-मन्त्रों को बोलकर—उनका सस्वर उच्चारण करके—यज्ञीय कर्मों का संस्कार करते हैं। यज्ञों में ब्रह्मा को मौन रहने का ही विधान है।"

शौनकजी ने पूछा—"कब तक मौन रहने का विधान है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आप जानते ही हैं, ऋक्वेद के मन्त्र दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो गाये नहीं जाते उनका केवल शान्तिपूर्वक पाठ ही किया जाता है, उन्हें 'शस्त्र' कहते हैं और जो मन्त्र गाकर सस्वर पाठ किये जाते हैं, उन्हें 'स्तोत्र' कहते हैं। यज्ञों में प्रातःसवन, मध्यन्दिन सवन और सायं सवन तीन सवन होते हैं। सवन अर्थात् यज्ञीयकृत्य। इन तीनों काल के लिये वेदों में से छाँट-छाँटकर शस्त्र और स्तोत्र पृथक्-पृथक् निकाल कर उन-उन कालों में गाये जाते हैं। प्रातः सवन में प्रातः

कालीय कृत्यों में जो स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ आदि मंत्र उच्चारण किये जाते हैं उन्हें प्रातरनुवाक कहते हैं प्रातः अर्थात् प्रातःकालीन कर्मों के–अनुवाक–अर्थात् तीनों वेदों में से तीनों कालों के स्वस्तिवाचन शान्तिपाठ के चुने हुए मंत्र यज्ञों में प्रातःसवन में ऋकवेद के अनुवाक पढ़े जाते हैं। मध्यन्दिन सवन में यजुर्वेद के अनुवाक और सायं सवन में सामवेद के। तो प्रातःकालीन कृत्यों में जब तक ऋक्वेद के प्रातरनुवाक मन्त्रों का पाठ न हो जाय, तब तक तो ब्रह्मा को सर्वथा मौन धारण किये ही रहना चाहिये। यज्ञ कार्य जब तक आरम्भ न हो, तब तक ब्रह्मा यज्ञ सम्बन्धी बातें अन्य ऋत्विजों से कर सकता है, किन्तु यज्ञ का प्रातरनुवाक कृत्य आरम्भ हो जाने पर जब तक समाप्त न हो जाय, ब्रह्मा को किसी से भी बात नहीं करनी चाहिये। उसे सर्वथा मौन धारण करके ही रहना चाहिये। यदि प्रातरनुवाक आरम्भ होने पर समाप्ति के पूर्व ही–बीच में–ब्रह्मा बोल उठता है, तो यज्ञ का एक ही तीनों ऋत्विजों द्वारा जो वाणी लक्षण रूप मार्ग है। उसी का संस्कार होता है, दूसरा जो मन लक्षण रूप मार्ग है वह नष्ट हो जाता है। अर्थात् यज्ञ का आधा भाग व्यर्थ हो जाता है।[४]

इस सम्बन्ध की ऐतरेय ब्राह्मण में एक कथा है। ब्रह्माजी ने सर्वप्रथम यज्ञ का विस्तार किया तभी उन्होंने ऋकवेद कर्म वाले को होता, यजुर्वेद के, को अध्वर्यु, सामवेद वाले को उद्गाता तथा अथर्वादि वेद वाले को ब्रह्मा निरूपण किया। और उनके कर्मों का भी निरूपण कर दिया किसी यज्ञ में ऋत्विजों ने प्रातरनुवाक शास्त्र का पाठ किया. स्तोभ भाग का जप करके वे ऋत्विज बीच में ही ब्रह्मा के साथ बातचीत करने लगे। ब्रह्माजी भी उनसे बातें कर रहे थे। तब उस यज्ञ के जो विद्वान् आचार्य थे, उन्होंने जब प्रातरनुवाक के आरम्भ होने पर ब्रह्मा को अन्य ऋत्विजों के

साथ बातचीत करते देखा, तो उन्होंने कहा—"अरे, यह आपने क्या किया ? प्रातरनुवाक के आरम्भ हो जाने पर बीच में ही बातचीत करके–मौन का परित्याग करके–यज्ञ के आधे भाग को नष्ट कर दिया।" इसलिये ब्रह्मा को प्रातरनुवाक आरम्भ होने पर बीच में बोलना नहीं चाहिये–मौन धारण किये रहना चाहिये। बीच में ब्रह्मा के बोल देने से क्या दोष होता है, इसे दृष्टान्त देकर समझाते हैं—यज्ञ के दो मार्ग हैं। मनोलक्षण मार्ग और वागलक्षण मार्ग। ब्रह्मा मन के द्वारा यज्ञीय कर्मों का संस्कार करता है। होता, अध्वर्यु और उद्गाता–वाणी द्वारा मन्त्रों का उच्चारण करके संस्कार करते हैं। यदि प्रातरनुवाक आरम्भ हो जाने पर बीच में ब्रह्मा ने मौन भङ्ग कर दिया—तो उसने एक मार्ग नष्ट कर दिया। अब तीनों ऋत्विज वाणी द्वारा ही संस्कृत करेंगे। तब यज्ञ साङ्गोपाङ्ग किस प्रकार सम्पन्न होगा ? उसे तो अन्त में नष्ट होना ही है। जैसे दो पैर से चलने वाले पुरुष के एक पैर को तोड़ दिया जाय, जैसे दो पैर से चलने वाली गाड़ी का एक पहिया पृथक् कर दिया जाय, तो ये कब तक चलेंगे। उन्हें तो रुकना ही पड़ेगा। इसी प्रकार एक मार्ग के नष्ट होने पर यज्ञ का नाश निश्चित ही है। यदि यज्ञ का नाश हो गया, तो इसके पश्चात् यज्ञ के यजमान का नाश तो हो ही जायगा। इस प्रकार जो यज्ञ पुण्य प्राप्ति के निमित्त किया गया था, ब्रह्मा के मौन भङ्ग करने पर यजमान और भी अधिक पापी हो जाता है। इसलिये ब्रह्मा को अपने कर्तव्य पालन में बड़ी सावधानी रखने की आवश्यकता है।

शौनकजी ने पूछा—"यदि ब्रह्मा अपने कर्तव्य पालन में तत्पर रहे, तब यज्ञ का क्या परिणाम होगा ?"

सूतजी ने कहा—"तब तो कहना ही क्या है। यदि प्रातः

वाक के प्रारम्भ होने के अनन्तर जब तक परिधानीया ऋचा
पाठ नहीं हो जाता, इसके बीच में पाठ के पूर्व तक ब्रह्मा
यावत् मौन धारण किये रहता है, तब मनोलक्षण मार्ग और
वागलक्षण रूप मार्ग दोनों ही मार्गों का चारों ऋत्विज मिलकर
संस्कार कर देते हैं। तब कोई भी मार्ग नष्ट नहीं होता। दोनों
मार्ग-मनुष्य के दोनों पैरों के समान, गाड़ी के दोनों पहियों के
समान, पक्षियों के दोनों पंखों के समान-भली-भाँति बने रहते हैं।
दोनों में से कोई भी मार्ग नष्ट नहीं होता। उनके दोनों मार्ग
यथावत् स्थित रहते हैं। जिस यज्ञ के दोनों मार्ग स्थित हैं, वह
यज्ञ भी स्थित रहता है, यदि यज्ञ साङ्गोपाङ्ग सविधि स्थित रहता
है तो यज्ञ का-यज्ञीय-यजमान भी स्थित रहता है। ऐसे यज्ञ को
सविधि सम्पन्न करने वाला यजमान भी यज्ञ करके श्रेष्ठत्व को प्राप्त
होता है। इसलिये यज्ञों में मनोलक्षण रूप मार्ग और वाणी
लक्षण रूप मार्ग दोनों की ही यथाशक्ति रक्षा करनी चाहिये।
यही मौन विज्ञान है। ब्रह्मा के मौन रहने पर यज्ञों का उत्कर्ष
बढ़ जाता है,उसी के बीच में बोल देने से यज्ञ नष्ट हो जाता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार पवन रूप में यज्ञ
की उपासना, ब्रह्मा के बीच में बोल देने पर यज्ञ की हानि तथा
ब्रह्मा के मौन पालन से यज्ञ की प्रतिष्ठा इन सबका वर्णन मैंने
आपसे किया। इसलिये यज्ञों में योग्य ब्रह्मा का ही वरण करना
चाहिये। योग्य ब्रह्मा से यज्ञ की कैसे रक्षा होती है और अयोग्य
ब्रह्मा से कैसे यज्ञ का नाश होता है, इस विषय का वर्णन मैं आगे
करूँगा। आशा है आप इस विषय को सावधानी के साथ श्रवण
करेंगे।"

छप्पय

एक पाद तैं पुरुष एक पहिये तैं रथ ज्यों।
होवैं दोऊ नष्ट मार्ग एकहिं तैं मख त्यों॥
नष्ट यज्ञ के होत नाश यजमानहु होवै।
पाप अधिक लगि जाय प्रतिष्ठा अपनी खोवै॥
तातैं दोऊ मार्ग शुचि, रखै पाद-नर, चक्र-रथ।
यज्ञ रहै थिर उभय तैं, होइ नहीं वह मख विरथ॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
सोलहवाँ खण्ड समाप्त।

यज्ञ दोष के प्रायश्चित स्वरूप व्याहृतियों की उपासना तथा यज्ञों में श्रेष्ठ ब्रह्मा की विशिष्टता

(१६६)

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति ॥*

(छा० उ० ४ प्र० १७ खं ८ म०)

छप्पय

अज तप करि रस लोक माहिँ ये सार निकारे ।
अग्नि भूमि तैं अन्त-रिक्ष तैं वायु निकारे ॥
स्वर्ग हु तैं आदित्य तीनि तिनि वेद तीनि हैं ।
वेदनि तैं व्याहृती भूर्भुवस्वः प्रसिद्ध हैं ॥
मख में ऋक्-श्रुति होइ क्षत, भू स्वाहा कहि देइ हवि ।
गार्हपत्य में हवन तैं, ऋक्-क्षत मख है जाइ पवि ॥

---

* जिस प्रकार लवणादि से सुवर्णादि धातुएँ जोड़ी जाती हैं, उसी प्रकार लोक, देव तीनों वेदों के वीर्य से यज्ञ के क्षतों का प्रतिसंधान किया जाता है। जिस यज्ञ में इस रहस्य का ज्ञाता विद्वान् ब्रह्मा होता है, वह यज्ञ इस प्रकार शुद्ध संस्कृत होता है, मानो ओषधियों द्वारा शुद्ध किया हुआ हो।

परीक्षाओं मे छात्रगण अपनी ओर से पूर्ण प्रयत्न करके शु ही लिखने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु परीक्षक उनमें अशुद्धियाँ देखने में लगा रहता है। तनिक-सी भी त्रुटि हुई उसकी दृष्टि व रुक जाती है। इसलिये प्रधानाध्यापक को बड़ी सावधानी साथ समस्त कक्षा की शुद्धि पर सदा सर्वदा ध्यान रखना चाहिये इसी प्रकार यज्ञों में असुरगण छिद्र ही देखते रहते हैं। ज तनिक सी भी मन्त्र से, तन्त्र से, शब्द से, वाक्य से, उच्चार से, देश, काल तथा पात्र सम्बन्धी, किसी भी प्रकार से त्रुटि ह गयी, तो वे आकर यज्ञ में विघ्न करते हैं। इन विघ्नों की निवृ का उपाय ब्रह्मा ही कर सकता है, वही टूटे हुए तारों को जो सकता है। जिस यज्ञ का ब्रह्मा विद्वान् होगा, देश, काल, वस्तु तथ विधि विधानों से भली-भाँति परिचित होगा, वही यज्ञ को साङ्गो पाङ्ग पूर्ण करा सकता है। इसके विपरीत जिस यज्ञ का ब्रह्मा अ होगा, जिसे यज्ञीय विधि विधानों का भली भाँति ज्ञान न होगा वह यज्ञ सम्बन्धी त्रुटियों को दूर नहीं कर सकता। यज्ञ कर्मों के छिद्रों को नहीं भर सकता, तो वह यज्ञ कभी सविधि साङ्गोपाङ्ग पूर्ण नहीं हो सकता। उसमें कुछ न कुछ त्रुटि रह ही जायगी। अतः यज्ञों में सबसे अधिक सावधानी इसी विषय की रखी जाय, कि उसका ब्रह्मा कार्यकुशल, सुयोग्य विद्वान् को ही बनाया जाय। ब्रह्मा विद्वान पटुक होगा, तो वह त्रुटियों का प्रतिसधान करता हुआ, यज्ञ को निः छिद्र रहते हुए निर्विघ्न समाप्त करा सकेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब यज्ञों में ब्रह्मा की विशिष्टता बताने के निमित्त पहिले लोकों का, देवताओं का तथा त्रयी विद्या का सार बताते हुए, उस सार से वेदों की जो ऋचायें त्रुटि-पूर्ण रह जाती हैं, वे खण्डित-सी हो जाती हैं, उन्हें कैसे जोड़ना

चाहिये। इस बात को बनाने के लिये पहिले सार वस्तु का कथन करते हैं।"

"ब्रह्माजी ने तपस्या करके पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग इन तीनों लोकों की रचना की। फिर उन्होंने तपस्या करके इन तीनों लोकों का सार निकालना चाहा। उनका ज्ञान ही—ध्यानपूर्वक विचार ही तप है। अतः ब्रह्माजी ने ध्यान रूप तप द्वारा तीनों लोकों का जो सार है—मुख्य वस्तु है—उसे निकाला। पृथ्वी में सार क्या है? अग्नि देवता है। अग्नि न हो, तो पृथ्वी निस्सार रह जायगी अतः पृथ्वी का सार अग्निदेव है। अन्तरिक्ष का सार—मुख्य वस्तु—क्या है? उसकी मुख्य वस्तु है वायु। वायु प्रवाहित न हो, तो अन्तरिक्ष-सार हीन—निस्सार है। अतः अन्तरिक्ष के सार वायुदेव हैं। अब द्युलोक का—स्वर्ग का सार क्या है? स्वर्ग का सार आदित्य है। आदित्य न हों, तो स्वर्ग को कोई कौड़ी के दाम में भी न पूछे। अतः द्युलोक के सार आदित्य हैं। तात्पर्य यही निकला, कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग इन तीनों के सार क्रमशः अग्निदेव, वायुदेव और आदित्यदेव हैं। अब अग्नि—वायु और आदित्य इन तीनों का सार क्या है? सार अर्थात् रस।

ब्रह्माजी ने अग्नि, वायु और आदित्य इन तीनों का रस जानने के लिये तप किया। अर्थात् ध्यानपूर्वक विचार किया। तब उन्होंने अग्नि का रस ऋग्वेद को जाना, वायु का रस यजुर्वेद और आदित्य का रस सामवेद को ग्रहण किया। फिर ऋक्, यजु और साम का सार जानने की जिज्ञासा से उन्होंने पुनः तप किया। तो ऋग्वेद की समस्त श्रुतियों का रस भू व्याहृति, यजुर्वेद की समस्त श्रुतियों का रस भुव व्याहृति और सामवेद की समस्त ऋचाओं का रस स्वः व्याहृति को जाना।

इसीलिये यज्ञ के ब्रह्मा को मौन धारण करके—तपस्या द्वारा—

यह देखते रहना चाहिये कि अन्य ऋत्विजों द्वारा कौन-सी श्रुतियाँ चत हो रहा हैं। अर्थात कोन–से वेद मत्रों का उच्चारण दोष पूर्ण हो रहा है। यदि ऋक्वेद का श्रुतियों द्वारा क्षत हो, ऋक्वेद का कोई ऋचा अशुद्ध उच्चारण का जाती हो, या उसका प्रयोग अन्य स्थान मे किया गया हो, किसी भी प्रकार का क्षत हो, तो ऋक्वेद का सार भूता–ऋक्वेद की रस स्वरूपा जो भू व्याहृति है उसके द्वारा न्यूनाधिक दोष के परिहारार्थ 'भूः स्वाहा' ऐसा कहकर जो गार्हपत्याग्नि के कुंड मे उसमे हवन कर दे। इस भू व्याहृति रूप हवन से ऋचाओं के रस से उनके वीर्य द्वारा ऋक सम्बन्धी यज्ञ क्षत के दोष निवृत्त होकर यज्ञ क्षत की पूर्ति हो जायगी। इसे बड़ा सावधानी से ब्रह्मा ही करवा सकता है।

इसी प्रकार यजुर्वेद की श्रुतियों के कारण क्षत हो–यजुः सम्बन्धी ऋचाओं में किसी प्रकार की त्रुटि हो गयी हो–तो यजुर्वेद का रस रूप जो भुवः व्याहृति है, उसके द्वारा 'भुवः स्वाहा' ऐसा कह कर गार्हपत्याग्नि के दक्षिण में जो अन्वाहार्यपचनाग्नि है-जिसे दक्षिणाग्नि भी कहते हैं–उसमें हवन करे। इस प्रकार हवन करने से यजुर्वेद की ऋचाओं के रस से जो यजुर्वेद के वीर्य द्वारा यजुर्वेद सम्बन्धी क्षत की पूर्ति हो जायगी। ब्रह्मा यदि ध्यान देकर ऐसा करता है तो मानो वह यजु सम्बन्धी क्षत की पूर्ति करता है।

इसी प्रकार यदि सामवेद की श्रुतियों के कारण यज्ञ में क्षति हुई हो तो साम की सार भूता जो स्वः व्याहृति है उसके द्वारा 'स्वः स्वाहा' ऐसा कहकर तीसरी जो आहवनीयाग्नि है उसमें हवन करे। ऐसा करने से वह साम रस से साम के वीर्य द्वारा यज्ञ सम्बन्धी क्षत की पूर्ति करता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इन छोटी-छोटी व्याहृतियों द्वारा टूटी हुई ऋचायें पुनः कैसे जुड़ सकती हैं ?"

सूतजी ने कहा—"क्यों भगवन् ! कोई लकड़ी टूट जाती है, तो उसमें लोहे की पत्ती लगाकर, अथवा छोटी काठ को किरच लगाकर उसमें लोहे की कील ठोककर उसे फिर ज्यों-का-त्यों जोड़ नहीं देते ? सोने का कोई आभूषण है,वह टूट जाय, तो टङ्कण आदि ऐसे क्षार रस होते हैं दोनों को मिलाकर क्षार से टूटे सुवर्ण को जोड़ देते हैं । चाँदी टूट गयी, तो उसे सुवर्ण से जोड़ देते हैं । राँगा है उसे चाँदी से जोड़ देते हैं । राँगा से सीसा को जोड़ देते हैं । सीसा से लोहे को जोड़ देते हैं लोहे से काष्ठ को अथवा चमड़े का बन्धन लगाकर भी काठ की वस्तुओं को जोड़ दिया जाता है । उसी प्रकार पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग इनके सार जो अग्नि, वायु और आदित्य हैं और इनके भी सार जो ऋक्, यजु और सामवेद हैं तथा इन तीनों वेदों की सारभूता जो भू, भुव और स्वः ये तीन व्याहृतियाँ हैं, ऐसी इन वेदत्रयी की वीर्यभूता लो त्रयव्याहृतियों से यज्ञ के क्षत का प्रति संसधान किया जाता है— जोड़ लगाया जाता है ।"

जो ब्रह्मा इस रहस्य को जानता है, जिसे वेदों के सारभूत इन रस स्वरूपा व्याहृतियों का ज्ञान हो, यज्ञ का वही ब्रह्मा मानो यज्ञ के समस्त अङ्ग उपाङ्गों को औषधियों द्वारा संस्कृत कर देता है । जिस यज्ञ में ऐसा विद्वान् ब्रह्मा होता है, वही यज्ञ उत्तर मार्ग-मुक्ति मार्ग का-हेतु होता है, उसे उदक्प्रवण कहते हैं, क्योंकि वह कर्म उत्तर की ओर झुका हुआ तथा दक्षिण की ओर उठा हुआ सा रहता है । जैसे दाँतों में जहाँ-जहाँ कोई वस्तु रुकी रहती है जिह्वा वहाँ पहुँच जाती है । इसी प्रकार यह प्रसिद्ध बात है, कि यज्ञ का विद्वान् ब्रह्मा जहाँ-जहाँ कर्म आतुर होता है—

रुकावट होती है–वहाँ-वहाँ वह ब्रह्मा पहुँच कर उस रुकावट को निवृत्त कर देता है।

इसलिये सत्यलोक के ब्रह्मा, जैसे सत्यलोक में हैं वास्तविक प्रजापति वे ही हैं। अन्य प्रजापति तो अनुलक्षण मात्र हैं, उसी प्रकार यज्ञों में वास्तविक ऋत्विज् तो यह मानव ब्रह्मा ही है। जब युद्ध केवल पृथ्वी पर योद्धाओं द्वारा होते थे, तो योद्धाओं की घोड़ियाँ योद्धाओं की सब प्रकार से रक्षा किया करती थीं। चतुर घोड़ियों द्वारा योद्धा युद्ध में अधिक सुरक्षित माना जाता था। उसी प्रकार यज्ञों में विद्वान् ब्रह्मा द्वारा रक्षित यज्ञ अधिक सुरक्षित माना जाता था। चतुरवेद विद् विधानज्ञ ब्रह्मा यज्ञ की, यज्ञ के यजमान की, अध्वर्यु, होता, उद्गाता तथा अन्य सहायक ऋत्विजों की भी सब ओर से रक्षा करता रहता है। अतः ऐसे विद्वान व्यक्ति को ही ब्रह्मा बनावे। अज्ञ को–वेद विधि से रहित को–कभी भी यज्ञों में ब्रह्मा न बनावे। इस बात को मैं बल देकर कहता हूँ, पुनः-पुनः दुहराता हूँ, कि वेद विधि को न जानने वाले अज्ञ को कभी भी ब्रह्मा न बनावे।

सूतजी कहते हैं – "मुनियो! इस प्रकार मैंने यज्ञ सम्बन्धी जो वेदत्रयी की ऋचायें हैं, उनमें हुए दोषों के प्रायश्चित्त रूप व्याहृतियों के हवन द्वारा यज्ञ की त्रुटियों के निवारण का उपाय बताते हुए यज्ञों में सुयोग्य विद्वान् ब्रह्मा की आवश्यकता का उल्लेख किया। अब आगे पाँचवे अध्याय में जैसे ज्येष्ठ श्रेष्ठ प्राणों की उपासना के सम्बन्ध में बताया जायगा। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

यजु श्रुति घृत है जायँ 'भुवः स्वाहा' कहि होवे।
दक्षिणाग्नि में करै यजुः घृत दोषहिं धोवे॥

यज्ञ दोष के प्रायश्चित्त स्वरूप व्याहृतियों की उपासना तथा यज्ञों में श्रेष्ठ ब्रह्मा की विशिष्टता

सामहु श्रुतिछत करै स्व स्वाहा आहनीया।
जोरें कनकहिं छार रजत कनक हु जुरवैया॥
रजत रॉंग त्रपु सीसकूँ, ताम्र लोह त्वचकाष्ठहू।
त्यों ही लोकहु देव, त्रय-विद्या तैं जुरि यज्ञहू॥

(२)

जो विधि ज्ञाता यज्ञ होइ ब्रह्मा करि संस्कृत।
उत्तर मार्गहिं हेतु होइ ब्रह्मा मख आवृत॥
ब्रह्मा मखहिं प्रधान एक ही ऋत्विज मानव।
रक्षा घोड़ी करै युद्ध में त्यों ब्रह्मा सब॥
ऋत्विज, मख, यजमान की, ब्रह्मा ही रक्षा करै॥
तातैं मख में विज्ञ नर, बहुश्रुत ब्रह्माकूँ वरै॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
सत्रहवाँ खण्ड समाप्त।
चतुर्थ अध्याय समाप्त।

ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुण सम्पन्न–प्राणोपासना

(१६७)

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह
वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥*

(छा० उ० ५ प्र० १ ख० १ मं०)

छप्पय

ज्येष्ठ श्रेष्ठ है प्रान जानि अस तस है जावै ।
वाक् वसिष्ठ कहाइ जानि नर वसिठ कहावै ॥
चक्षु प्रतिष्ठा जानि प्रतिष्ठा स्वर्गहिँ पावै ।
सम्पद् श्रोत्रहि कहें जानि बहु भोग भुगावै ॥
मन कूँ ही आश्रय कह्यो, ताहि आयतन हू कहत ।
जो जाने या रहस कूँ, निज जातिनि आश्रय रहत ॥

जो अपने से अवस्था में बड़ा हो, उसे ज्येष्ठ कहते हैं। प्रशस नीय को भी ज्येष्ठ कहते हैं (अयम्–ऐषाम्–अतिशयेन वृद्धः इति–ज्येष्ठः) ज्येष्ठ ही श्रेष्ठ भी हो यह बात नहीं। बहुत से ज्येष्ठ होने पर भी श्रेष्ठ नहीं होते। श्रेष्ठ कहते हैं उत्तम पूजा के योग्य को (अयम्–एतेषाम्–अतिशयेन प्रशस्यः = इति=श्रेष्ठः) ब्राह्मणों में

* ये जो प्राण हैं, वास्तव मे ये ही ज्येष्ठ भी हैं और श्रेष्ठ भी हैं। जो इन प्राणों को भली-भाँति जान लेता है, कि ये ही ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ हैं, तो वह जानने वाला व्यक्ति सबमे ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ हो जाता है।

श्रेष्ठत्व आयु के ज्येष्ठत्व से नहीं माना जाता। वहाँ श्रेष्ठत्व में वय कारण न होकर ज्ञान ही मुख्य कारण बनाया है। जो ज्ञान में श्रेष्ठ है, फिर चाहें उसके अन्य संबन्धी अवस्था में सम्बन्ध में ज्येष्ठ ही क्यों न हों, उन्हें श्रेष्ठ न मानकर ज्ञान ज्येष्ठ ही श्रेष्ठ माना जायगा। क्षत्रियों में श्रेष्ठत्व बल के कारण होता है। बल में जो ज्येष्ठ है अवस्था में चाहें वह अवर ही क्यों न हो बल के कारण ही वह श्रेष्ठ समझा जायगा। वैश्यों में ज्येष्ठत्व धन के कारण माना गया है। धन में जो ज्येष्ठ है, वह अवस्था में भले ही न्यून ही क्यों न हो अपनी जाति में वही श्रेष्ठ माना जायगा। शूद्रों में ज्येष्ठत्व आयु के कारण होता है, जो वयोवृद्ध है वही श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ कहो सत्तम कहो, अतिशोभन, वरेण्य, मुख्य प्रमुख, उत्तम, अग्रिम, अनवर ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। मनुष्यों में जो उत्तम होता है उसे पुरुषोत्तम–पुरुषसत्तम, प्रमुख पुरुष आदि कहते हैं। जो अवस्था से भी ज्येष्ठ हो और उपयोगिता तथा ज्ञान के कारण भी ज्येष्ठ हो उसे ज्येष्ठ–श्रेष्ठ कहते हैं। ऐसे उपयोगी पुरातन पुरुष सबके वन्दनीय तथा माननीय माने जाते हैं। अतः जो वास्तव में ज्येष्ठ भी हों और श्रेष्ठ भी हो उनकी स्तुति वन्दना करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब ज्येष्ठ और श्रेष्ठ की उपासना का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। शरीर में जो ज्येष्ठ भी हो और श्रेष्ठ भी हो, उसी की उपासना करनी चाहिये। शरीर में सबसे अधिक ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ कौन है, इसी का निर्णय करना है।"

शौनकजी ने पूछा—"शरीर में सबसे अधिक ज्येष्ठ-श्रेष्ठ कौन है? सूतजी!"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! शरीर में कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ

तथा मन, बुद्धि चित्त और अहंकार इन सबसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ प्राण को ही बताया है। प्राणों से ज्येष्ठ-श्रेष्ठ शरीर में दूसरा कोई नहीं, जो इस बात को भली-भाँति जान लेता है, वह जानने वाला भी सबसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ हो जाता है।"

शरीर में वाणी ही वसिष्ठ है, वसिष्ठ उसे कहते हैं जो सबका आच्छादन करता है अथवा जो अत्यन्त वसुमान-धनवान-हो। शरीर में समस्त बाह्य तथा अन्तर की इन्द्रियों में वाणी ही श्रेष्ठ है। मनकी बात को वाक् ही व्यक्त करते हैं अतः सबमें वाक् ही वसिष्ठ है। धनवान है। वाणी के कारण ही बेटी, बेटा, धन, सम्पत्ति क्षण भर में दूसरों के बन जाते हैं, अतः वाक्-वाणी-ही वसिष्ठ है। जो इस तथ्य को भली-भाँति जान लेता है वह अपनी जाति के लोगों में वसिष्ठ-विशिष्ट-बन जाता है।

शरीर में प्रतिष्ठा चक्षु हैं। लज्जा आँखों में ही होती है, जो शीलवान् है बुरे कर्मों से लज्जित होता है। संसार में उसी की प्रतिष्ठा है, जो प्रतिष्ठा के इस रहस्य को जानता है, वह लोक तथा परलोक में परम प्रतिष्ठित होता है। अतः आँखों में शील सकोच प्रतिष्ठा का द्योतक है।

इस शरीर में संपदा क्या है? गुणों में जो अधिक उत्कर्ष वाली वस्तु होती है वही सम्पत्ति, संपदा तथा सम्पद् कहलाती है। सम्पत्ति से इष्ट पदार्थों की प्राप्ति होती है। इस शरीर में सम्पद् क्या है? श्रोत्र। श्रोत्र-कान-ही शरीर में सम्पदा है। कानों के द्वारा ही वेद शास्त्रों का उनके अर्थों का ग्रहण होता है। इसीलिये वेदों को श्रुति कहते हैं। जो कोई सम्पद् के यथार्थ मर्म को जान लेता है, उसे दैवी तथा मानुषी सम्पत्ति प्राप्त होती है। उसे इस लोक तथा परलोक के कामभोग सम्यक् प्रकार से प्राप्त होते हैं।

इस शरीर में आश्रय-आयतन-क्या है? मनीषियों ने मन

को ही आयतन माना है, क्योंकि पुरुषों के सुख-दुःख का एकमात्र कारण मन ही है। मन जिसे विजय मान ले वही विजय है, जिसे पराजय मान ले वही पराजय है। बन्ध और मोक्ष मन के ही मानने से होता है। अतः शरीर का आश्रय मन है। जो इस रहस्य को भली-भाँति जान लेता है वह आयतनवान् होता है। सभी का आश्रय होता है। सभी उसके आश्रय में आकर सुखी होते हैं। मन को आयतन मानकर उपासना करनी चाहिये।

शौनकजी ने पूछा—"वाणी तो वसिष्ठ है, चक्षु प्रतिष्ठा हैं, श्रोत्र सम्पदा हैं, और मन आयतन आश्रय है। इनमें मन ही सबसे श्रेष्ठ हुआ।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! इन्द्रियों में भले ही मन श्रेष्ठ हो, किन्तु मन से भी ज्येष्ठ-श्रेष्ठ प्राण हैं।"

शौनकजी ने कहा—"प्राण सबसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ कैसे हैं?"

सूतजी ने कहा—"भगवती श्रुति ने इस सम्बन्ध में एक बड़ी ही सुन्दर कथा कही है। उस कथा से ही आपके प्रश्न का यथार्थ उत्तर मिल जायगा।"

एक बार देह रूपी गेह में रहने वाले सभी सदस्यों का एक सम्मेलन हुआ। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ आकर सभा भवन में बैठ गयीं। कर्मेन्द्रियाँ भी आ गयीं। अन्तःकरण चतुष्टय भी आकर बैठ गये। इस प्रकार के शरीर के अन्तर्गत रहने वाले प्राण भी आ गये। अब प्रश्न अध्यक्ष का उठा। अध्यक्ष के श्रेष्ठ आसन को कौन सुशोभित करे। हस्त इन्द्रिय ने प्रस्ताव रखा—"हम कर्मेन्द्रियों में वाणी सर्वश्रेष्ठ है। लोग वाणी द्वारा ही उसकी योग्यता कुल का ज्ञान कर लेते हैं। अतः मेरा प्रस्ताव है, कि वाणी को ही अध्यक्ष पद प्रदान किया जाय।"

इस पर रसना इन्द्रिय ने कहा—"वाणी जिह्वा पर ही रहती

हैं, कर्मेन्द्रियों में वाणी श्रेष्ठ है, किन्तु वह सभी इन्द्रियों से श्रेष्ठ नहीं। मेरा प्रस्ताव है कि चक्षु इन्द्रिय को अध्यक्ष बनाया जाए। जगत् का अस्तित्व चक्षु से है। चक्षु के बिना सब शून्य है।'

यह सुनकर स्पर्शेन्द्रिय ने कहा—"चक्षु की उपयोगिता हम मानता है, किन्तु चक्षु केवल नेत्र गोलक द्वारा ही देख सकती है। नेत्र गोलकों को बन्द कर दो, तो चक्षु कुछ भी देखने में समर्थ न होगी। वह एक देशीय है। मैं सर्वदेशी हूँ। मैं शरीर के नख से लेकर शिखा तक व्याप्त हूँ। बाहर भीतर सर्वत्र मैं कार्य करती रहती हूँ। आँख मे तनिक-सा धूलि कण पड जाय मैं बता दूँगी। पीठ के पीछे चींटी रेंगने लगे, मैं झट बता दूँगी। दाँतो में कोई वस्तु हिटक जाय, मैं जिह्वा से कहूँगी, उसे निकाले। इतने बड़े दाल भात, साग के ग्रास मे छोटा-सा बाल चला जाय, मैं मुख में आते ही बतादूँगी बाल है। शरीर का कोई अग ऐसा नहीं जहाँ मैं कार्य रत न रहती होऊँ। जिस अग मे मैं कार्य नहीं करती, वह अग शून्य गलित—व्यर्थ—अकाम बन जाता है। अतः समस्त शरीर पर मेरा अधिकार होते हुए भी मैं अपने लिये प्रस्ताव नहीं करती। मेरा वहिन श्रोत्रेन्द्रिय को अध्यक्ष बनाया जाय, क्योंकि ज्ञान का कारण यही है। वेदों का श्रवण कानों से होता है इसीलिये वेदों को श्रुति कहते हैं।"

इस पर अहकार ने कहा—"तुम सब व्यर्थ बढ-बढ़कर बातें कररही हो, अपने बड़प्पन को व्यर्थ मे डींग हाँक रही हो।" कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ हमारे भाई मन के बिना कुछ भी नहीं कर सकतीं। चक्षु रूप को देखतीं अवश्य हैं, किन्तु हमारे भाई मन का सहयोग न हो, तो ये देखते हुए भी—खुली रहने पर भी—देख नहीं सकतीं। मन की सहायता बिना श्रोत्र सुन नहीं सकते। वाणी बोल

नहीं सकती। अतः मेरा प्रस्ताव है मनको अध्यक्ष बनाया जाय, सर्वश्रेष्ठ सिंहासन इन्हीं को प्रदान किया जाय।"

इस पर अपान नामक प्राण ने कहा—"आप सब जो कह रहे हैं, वह सब सत्य होने पर भी पूर्ण सत्य नहीं। हमारे जो ज्येष्ठ-श्रेष्ठ भाई मुख्य प्राण देव हैं, ये ही सबसे श्रेष्ठ है। सभा पति के आसन पर इन्हें ही आसीन किया जाय।"

यह सुनते ही सभा में हुल्लड़ मच गया। सभी कहने लगे—"मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ। वे कौन होते हैं अध्यक्ष पद पर मेरा ही अधिकार है।" इस अपनी-अपनी श्रेष्ठता के लिये सभी विवाद करने लगे। जब विवाद पराकाष्ठा पर पहुँच गया। कोई भी किसी की बात को मानने को उद्यत नहीं था। सभी अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् ढपली बजाने लगे, अपना-अपना पृथक् राग अलापने लगे। तब उनमें से मुख्य प्राण उठे और बोले—"देखो, भाई! यों तो सभी लोग अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। जब परस्पर में विवाद हो और एक दूसरे की बात सुनने को मानने को उद्यत न हों, तब किसी श्रेष्ठ पुरुष को मध्यस्थ बना लेना चाहिये। वह जो निर्णय दे दे उसी को सबको मान लेना चाहिये।"

कर्मेन्द्रियों ने कहा—"हमें मध्यस्थता स्वीकार है।"

ज्ञानेन्द्रियों ने कहा—"हमें भी स्वीकार है।"

अन्तःकरण चतुष्टय ने कहा—"हम भी स्वीकार करते हैं।"

प्राणों ने कहा—"हमारे मुख्य प्राण का तो यह प्रस्ताव ही है। हमें भी स्वीकार है।"

सबके स्वीकार कर लेने पर अब प्रश्न यह उठा कि मध्यस्थ बनाया किसे जाय। इस पर मुख्य प्राण ही ने कहा—"यदि आप सबकी आज्ञा हो, तो मध्यस्थता के लिये मैं एक महानुभाव के नाम का प्रस्ताव करूँ ?"

सबने कहा—"हाँ कीजिये। यदि वे पक्षपात-हीन व्यक्ति होंगे, तो हम सब उन्हें स्वीकार कर लेंगे और यदि वे केवल आपके ही पक्ष के समर्थक होंगे, तो हम उन्हें कभी स्वीकार न करेंगे।"

इस पर मुख्य प्राण ने कहा—"मैं प्रस्ताव करता हूँ, उन्हें मानना न मानना आप सबके अधीन है। हम सभी चराचर जीवों के पितामह भगवान् प्रजापति पक्षपात शून्य हैं। उनके लिये सभी सन्तानें समान हैं। उन्हीं के समीप चलकर उन्हें ही मध्यस्थ बनाकर उनसे पूछा जाय। वे जिसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ बतादें, उसी को सब लोग ज्येष्ठ-श्रेष्ठ मानकर अध्यक्ष पद पर आसीन कर दें।"

यह सुनकर सभी ने एक स्वर से कहा—"हमें स्वीकार है। हमें भगवान् प्रजापति की मध्यस्थता सहर्ष स्वीकार है। उन्हीं के समीप चलना चाहिये।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो मुनियो! सबकी सम्मति से सभी भगवान् प्रजापति के समीप गये। मुख्य प्राण ने प्रजापति के पाद पद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम करके पूछा—"भगवन्! हम सबमें कौन श्रेष्ठ है? कृपया उसका नाम निर्देश कर दें, तो हम उसे ही ज्येष्ठ-श्रेष्ठ मानकर अध्यक्ष पद पर बिठा दें।"

भगवान् प्रजापति ने सोचा—"मैं किसी एक का नाम बता दूँगा, तो शेष सब असन्तुष्ट हो जायँगे। अतः ऐसी युक्ति से उत्तर दिया जाय, जिससे ये सभी मिलकर अपने आप अपने अध्यक्ष का निर्णय कर लें।" यही सोचकर प्रजापति ने कहा—"तुम में से जिसके भी निकल जाने पर यह शरीर पापिष्ठ सा-स्पर्श के अयोग्य-दिखाई देने लगे। वही आप सब में श्रेष्ठ है। क्रमशः आप सब लोग पारी-पारी से इस शरीर को त्यागकर इस बात का परीक्षा करो। बोलो, आप सबको यह निर्णय स्वीकार है?"

सबने एक स्वर से कहा—"हमें यह निर्णय सहर्ष स्वीकार । हम क्रमशः इस शरीर से पृथक् हो-होकर इस बात की रीक्षा करेंगे।" यह कहकर वे सब पुनः अपने स्थान पर लौट आये। अब सर्व प्रथम वाणी ने कहा—"मैं ही पहिले इस शरीर को छोड़कर जाती हूँ। देखें मेरे बिना इस शरीर का कार्य कैसे चलता है।" यह कहकर सबसे विदा लेकर वाणी शरीर को छोड़ एक वर्ष के लिये घूमने फिरने अन्यत्र चली गई।

वाक् इन्द्रिय एक वर्ष तक घूमती फिरती रही। एक वर्ष पर्यन्त वास करने के पश्चात् वह फिर लौटकर आयी। उसने आश्चर्य कित होकर देखा शरीर ज्यों का त्यों स्वस्थ बना हुआ है, शरीर ं प्राण पूर्ववत् चल रहे है। नेत्र समस्त वस्तुओं को देख रहे हैं। कान सुन रहे हैं। मन मनन कर रहा है। पैर चल रहे है। हाथ वस्तुओं को उठा रहे हैं। धर रहे हैं। ऊपर नीचे उछाल रहे हैं। शरीर का कोई भी कार्य रुका नहीं। तब तो उसने अन्य शरीर में रहने वाले इन्द्रिय, अन्तःकरण तथा प्राणादि से पूछा—"मेरे बिना तुम सब जीवित कैसे रह सके?"

इसका उत्तर देते हुए उन्होंने वाक् इन्द्रिय से कहा—"तुम्हारे न रहने पर शरीर में कोई विशेष असुविधा तो नहीं हुई। तुम देखतो हो, जो बोलने में असमर्थ हैं, जिनकी वाक् इन्द्रिय कार्य नहीं करती, ऐसे गूँगे लोग भी संकेतों द्वारा अपना सब काम चला ही लेते हैं। जिस प्रकार गूँगे पुरुष वाणी बोले बिना ही सब व्यवहार करते हुए प्राणन क्रिया करते हैं। जीवित बने रहते हैं। नेत्रों से देखते हैं श्रोत्रों द्वारा श्रवण करते हैं, मन द्वारा मनन चिन्तन करते हुए जीवित रहकर अपना काम चला लेते हैं। वैसे ही तुम्हारे बिना हम सब भी काम चलाते हुए इस शरीर को जीवित बनाये रखे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अन्य इन्द्रियादिकों की बात सुनकर वाणी ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और वह चुपचाप शरीर में प्रवेश करके पूर्ववत् अपने कार्य में प्रवृत्त हो गई। अब आयी चक्षु इन्द्रिय की पारी। चक्षु इन्द्रिय भी विदायी का भोज खाकर, सबसे मिल भेंट कर–हाथ मिलाकर–एक वर्ष का अवकाश लेकर प्रवास के लिये निकल पड़ी। एक वर्ष तक तीर्थ व्रत करती हुई इधर-उधर भिन्न भिन्न स्थानों में घूमती फिरती रही। जब एक वर्ष पूरा हो गया, तब वह लौटकर अपने देह रूपी घर में आ गयी। उसने देखा शरीर का व्यापार वैसे ही पूर्ववत् सुचारु रूप से चल रहा है। उसने आश्चर्य के साथ अन्य इन्द्रियादि से पूछा—"कहो तो सही आप सब मेरे बिना जीवित कैसे रह सके ? बिना देखे शारीरिक व्यवहार कैसे चल सका ?"

इस पर अन्य इन्द्रियादिकों ने कहा—"बिना देखे अन्धे भी सब काम चला लेते हैं। वे स्पर्श करके रंग तक बता देते हैं। जिस मार्ग से एक बार निकल जायगे उसे फिर नहीं भूलेंगे। जैसे अन्धे भी बिना दृष्टि के समस्त शारीरिक कार्यों का निर्वाह कर लेते हैं। जैसे बिना दृष्टि के भी अंधे पुरुष बिना देखे ही प्राणों से प्राणन करते हैं। वाणी से बातचीत करते हैं, श्रोत्रों द्वारा सुनते हैं, मन के द्वारा चिन्तन मनन करते हुए भी जीवित बने रहते हैं। उसी प्रकार हम सब भी तुम्हारे बिना निर्वाह करते हुए अब तक शरीर में जीवित बने रहे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह सुनकर चक्षु ने भी अपनी पराजय स्वीकार कर ली और वह शरीर में आकर पूर्ववत् अपना कार्य करने लगी।"

अब पारी आयी कर्णेन्द्रिय की। श्रोत्र को भी विदाई भोज दिया गया, सबने उसे उत्साह पूर्ण वातावरण में भाव भरी

विदाई दी। वह भी सबसे मिल भेंटकर—नमस्कार प्रणाम करके—एक वर्ष के अवकाश पर प्रवास पर चली गयी। वर्ष भर इच्छानुसार भ्रमण करती रही। वर्ष बीतने पर वह लौटकर देहरूपी गेह में आयी। उसने देखा, देह का सब कार्य पूर्ववत् चल रहा है। सभी अपने-अपने कार्यों में लगे हुए हैं। उसने अन्य इद्रियादिकों से पूछा—"आप सब बिना शब्द सुने मेरे बिना जीवित कैसे रह सकीं ?"

इसका उत्तर देते हुए इन्द्रियादिकों ने कहा—"डोरा पुरुष—बहरे आदमी—क्या बिना सुने अपना निर्वाह नहीं कर लेते ? वे जीवित नहीं रहते क्या ? जिस प्रकार बहरे मनुष्य बिना शब्द सुने प्राणों से प्राणन करते हैं। वाणी द्वारा वचनों को बोलते हैं, आँखों द्वारा दृश्यों को देखते हैं। मन द्वारा मनन चिन्तन करते हुए अपने समस्त शारीरिक कार्यों का सम्पादन करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, वैसे ही हम सब ने इस शरीर को बनाये रखा। शरीर के साथ-ही-साथ हम भी जीवित बने रहे।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो भगवन् ! ऐसा जानकर श्रोत्र ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली, वह पूर्ववत् शरीर में स्थित रह कर अपना कार्य करने लगी। अब आयी मन की पारी। उसने समस्त इन्द्रियों से कहा—"मैं भी परीक्षा कर लूँ आप सब घबरायेंगी तो नहीं ?

सब ने कहा—"आप भी परीक्षा कर लें। एक वर्ष तक आप भी यात्रा कर आवें। यह सुनकर मन शीघ्रता से बिना विदायी समारोह के दौड़कर चले गये। वर्ष भर इधर-उधर भटकते फिरे। एक वर्ष के अनन्तर आये तो उन्होंने देखा, शरीर तो पूर्ववत् चल रहा है। उसने संभ्रम और आश्चर्य के साथ पूछा—"मेरे बिना

भी तुम सब कैसे जीवित रह सके। इन्द्रियों से काम कौन क
था ?"

इस पर उन सब ने कहा—"पागलों का जिनका मस्ति
विक्षिप्त हो जाता है, उनके शरीर का भी तो निर्वाह होता
है। अथवा जिन बच्चों का मन विकसित नहीं हुआ है, उन
को शरीर यात्रा चलती ही है। वे लोग प्राणों द्वारा प्राणन क्रि
करते ही हैं वाणी द्वारा कुछ-न-कुछ बोल ही लेते हैं आँखों
देखते भी हैं, श्रवणों द्वारा सुनते भी हैं। इस प्रकार उनका क
चल ही जाता है, जीवन निर्वाह हो ही जाता है, वैसे ही हम स
आपके बिना भी देह में जीवित बने रहे।"

यह सुनकर मन का दर्प चकनाचूर हो गया। मन-ही-म
अपनी पराजय स्वीकार करके शरीर में यथावत् कार्य कर
लगे।

अब मुख्य प्राण की पारी आयी। प्राण ने कहा—"आ
सबकी आज्ञा हो, तो वर्ष भर मैं भी सैर सपाटा कर आऊँ।"

सबने कहा—"अच्छी बात है। आप भी परीक्षा कर लें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! मुख्य प्राण अभी शरीर से
विदा भी नहीं हुए केवल उन्होंने जाने का संकल्प ही किया था
कि अन्य प्राणों के भी सिंहासन हिल गये। वे सब अपने आप
ही उसी प्रकार उखड़ कर प्राणों के संग जाने को उद्यत हो गये,
जैसे बलवान् घोड़ा अपने आगे पीछे के बन्धनों और खूँटों को
उखाड़ देता है, वैसे ही अन्य प्राण भी साथ जाने को
उद्यत हो गये। प्राणों के बिना तो कोई भी वहाँ रहने को उद्यत
नहीं था। शरीर श्रीहीन निष्प्राण अशुचि अस्पर्श शव ही बनने
जाता था, अतः सभी ने प्राण को रोकते हुए उसकी विनय करते
हुए उसके सम्मुख आकर कहा—"भगवन्! आपके वियोग में

हम एक लव निमेष भी सहन नहीं कर सकते। आप सब हमारे स्वामी हैं। आप न जाँय आप यहीं रहें। हम सबने सर्व सम्मति से एक स्वर से सहर्ष स्वीकार कर लिया। शरीर में आप ही सबसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ हैं। आप उत्क्रमण न करें।"

यह सुनकर प्राण ने प्रवास करने का अपना विचार उस समय स्थगित कर दिया। सबको आश्वासन दिया—"मैं आप सबके कहने से रुक गया, मैं इस समय न जाऊँगा।" यह सुनकर सभी परम प्रमुदित हुए। अब हँसकर प्राण ने सर्वप्रथम वाक् इन्द्रिय से पूछा—"क्यों वाक् इन्द्रिय ! तुम तो वसिष्ठ विशिष्ट-हो न ?"

यह सुनकर वाक् इन्द्रिय ने कहा—"अजी, मैं काहे की वसिष्ठ हूँ। वास्तव में तो आप ही वसिष्ठ हैं। आपके रहने पर ही मेरा अस्तित्व है। आप तो विशिष्टों से भी विशिष्ट हैं।

तब प्राण ने चक्षु से कहा—"चक्षु इन्द्रिय ! तुम तो प्रतिष्ठा हो न ?"

चक्षु ने कहा—"अजी, मैं काहे की प्रतिष्ठा हूँ। मेरी प्रतिष्ठा तुम्हारे ही कारण है। वास्तविक प्रतिष्ठित तो आप ही हैं।"

तब प्राण ने कर्णेन्द्रिय से कहा—"कर्णेन्द्रिय ! तुम तो सम्पद् हो न ?"

कर्णेन्द्रिय ने कहा—"भगवन् ! समस्त सम्पादाओं के साधन भूत स्वामी तो आप ही हैं। मेरी जो सम्पदा है तुम्हारे ही कारण से है। मैं सम्पद् न होकर वास्तव में आप ही सम्पद् हैं।"

तब प्राण ने मन से कहा—"मनदेव ! आप तो आयतन-आश्रय-हैं न ?"

मन ने कहा—"भगवन् ! आप हमें लज्जित न करें। मेरा आश्रयत्व आपके ही ऊपर अवलम्बित है। वास्तविक आश्रय

आप ही हैं। मैं सबका आयतन न होकर आप ही सबके आय-तन हो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस संवाद का सार निकालते हुए भगवती श्रुति कहती है—लोक में लोग शरीर को यह नहीं कहते कि वाणी वाला है, यह चक्षुवान् है, यह श्रोत्रवान् है, यह मनवान् है। सब यही कहते हैं यह प्राणवान् प्राणी है। क्योंकि शरीर में प्राण ही मुख्य हैं। शरीर से प्राण पृथक् हो जायँ, तो नाटक समाप्त ही है। जीवन का अन्त ही है। इसलिये ये सब प्राण ही हैं। प्राणों की ही मुख्यता है। मनुष्य विना वाणी के जीवित रहते हैं। सकेत से सभी कार्य चल जाते हैं। सैकड़ों गूँगे सुख से जीवन यापन कर रहे हैं। नेत्रों के विना भी कार्य चल ही जाता है। लाखों नेत्रहीन परमप्रसिद्ध हो चुके हैं। बड़े-बड़े प्रख्यात कलाकार अन्धे हुए हैं। विना देखे ही उनके समस्त कार्य हो जाते हैं।

विना कानों के कार्य चल जाता है। बहुत से बहरे लिख पढ़ कर सब काम कर लेते हैं। वृद्धावस्था में श्रोत्र नेत्रादि इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, किसी-किसी की तो काम ही नहीं करतीं फिर भी बूढ़े बहुत दिनों तक जीवित रहते हैं।

अविकसित मन वाले बच्चों का मन के विना ही काम चल जाता है। इसी प्रकार युद्ध में बहुतों के हाथ कट जाते हैं। बहुतों के पैर कट जाते हैं। बहुतों के पैदा होते समय गुदा का छिद्र ही नहीं रहता। चिकित्सक उदर में छिद्र करके उसमें नली लगाकर मल निकालने का मार्ग बना देते हैं। वे लोग भी बहुत दिनों तक जीवित रहते हैं। इन सबके विना तो पुरुष जीवित रह सकता है, किन्तु प्राणों के विना एक क्षण भी जीवित नहीं रहता। जीवन का प्राण ही आधार है। शरीर में प्राण ही

ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ हैं। इसीलिए शरीरधारी को इन्द्रियधारी अन्तःकरणधारी न कहकर प्राणधारी अथवा प्राणी ही कहते हैं। अतः प्राण को ही परमेश्वर मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये, क्योंकि वे प्रभु प्राणों के भी प्राण हैं। प्राणों का भी प्राणन वे ही करते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार प्राण का शरीर में ज्येष्ठत्व-श्रेष्ठत्व सिद्ध किया गया। अब आगे प्राण का अन्न वस्त्रादि से कैसे निर्देश किया जायगा। इस प्रकरण को आगे कहा जायगा। आशा है आप सब इस प्रकरण को दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

प्राण और इन्द्रियनि माहिं अति भयो विवादा।
प्राण कहें—हम श्रेष्ठ इन्द्रियनि बड़पन वादा॥
दोऊ झगड़त गये प्रजापति ब्रह्मा पाहीं।
जा बिनु तन पापिष्ठ श्रेष्ठ वह दोउनि माहीं॥
वाक्, चक्षु, श्रोत्रहु गये, मन बिनु हू तन चलि रह्यो।
प्राण गये शव बनि गयो, श्रेष्ठ प्राण सब मिलि कह्यो॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के पञ्चम अध्याय में
प्रथम खंड समाप्त।

प्राण का अन्न और वस्त्र निर्देश

(१६८)

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किञ्चिदि-
दमाश्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदन-
स्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवं विदि किञ्चना-
नन्नं भवतीति ॥१

(छा० उ० ५ प्र० २ ख० १ म०)

छप्पय

का होवै मम अन्न ? कह्यो वागादिक सबई ।
अन ही प्रानिनि नाम खायँ सब वस्तु प्रान ई ॥
होवै विन्न अनन्न प्रान सब अन्नहि मानत ।
वस्त्र कहा ? वागादि कह्यो जल पट तब जानत ॥
सब जन भोजन आदि अरु, अन्त पिये पानी सतत ।
आच्छादन अन्नहिँ करत, आच्छादक जलकूँ कहत ॥

---

१ जब वागादि इन्द्रियों ने प्राण को ज्येष्ठ-श्रेष्ठ मान लिया तब प्राण ने उनसे पूछा—"यह बताओ, मेरा अन्न क्या होगा ?" तब इन्द्रियों ने कहा—"कुत्ते और पक्षी सभी प्राणी जो खाते हैं, सभी तुम्हारा अन्न है।" 'अन' प्राण का ही प्रत्यक्ष नाम है। सो यह सब अन का—प्राण—का ही अन्न है। जो इस तत्व को भली-भाँति जान लेता है, वह सर्वभक्ष्य हो जाता है।

शरीर में जो भी कुछ चेतना है, जो भी कुछ कर्म करने की शक्ति है, सब प्राणों के द्वारा ही हैं। शरीर में अन्य इन्द्रियाँ न भी रहें, तो किसी प्रकार कुरु-मुरु करके निर्वाह हो ही जाता है, किन्तु शरीर में प्राण न रहें, तो शरीर द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता। वह अकर्मण्य, चेतनाशून्य, निष्क्रिय, निष्प्राण तथा शव बन जाता है। प्राण पुष्ट होता है अन्न से। प्राणों को अन्न न मिले, तो वे क्षीण होते-होते शरीर का परित्याग करके चले जाते हैं। जो खाये जायें उन सभी पदार्थों का नाम अन्न है। संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो किसी न किसी का खाद्य न हो। हाथ वाले पुरुष बिना हाथ वाले जौ, चना, गेहूँ, फल, साग, कन्द आदि को खाते हैं। दो पैर वाले चार पैर वालों को खा जाते हैं। बड़े मत्स्य छोटी मछलियों को खा जाते हैं। सर्पिणी अपने पुत्रों को ही खा जाती है। बहुत से घुन आदि कीड़े सूखी लकड़ियों को खाते हैं। गौ आदि पशु तृण घास को खाते हैं। पाषाण तथा लोहे आदि धातुओं को भी जीव खाते हैं। मृतक जीवों को जीवित प्राणी खा लेते हैं। विष्ठा, थूक, खखार, पीव, मांस आदि को शूकर, कूकर, मछली, कीड़े आदि खाते हैं। सारांश यही कि संसार की सभी वस्तुएँ किसी न किसी का आहार हैं। सभी अन्न हैं। अन धातु का अर्थ है प्राणन-जीवन (अनस्य-प्राणस्य यद् आहारः स अन्नम्, अत्तीति अन्नम्) अन्न एक प्रकार से शरीर रूप मन्दिर को बनाये रखने की ईंटों के समान है। सूखी ईंटों से घर सुस्थिर नहीं रह सकता, जब तक उसे पानी मिलाकर चिना और लीपा पोता न जाय, उसे आच्छादित न किया जाय। शरीर जैसे वस्त्रों से ढका जाता है, वैसे प्राण पानी से ढके जाते हैं। भोजन के पहिले जल का आचमन करते हैं। खाते समय भी बीच-बीच में पानी पीते जाते हैं और भोजन के अन्त में भी पानी

पीते हैं। अन्न को ऊपर नीचे से जल से ढक देते हैं। इसीलिये जल प्राण का आच्छादन है, वस्त्र है। प्राण की शोभा, स्थिरता, अन्न और जल से ही है। जीव ज्ञान के बिना भूखा और नंगा है, जो प्राणों के रहस्य को भली-भाँति जान लेते हैं, वे विधि निषेध से परे होकर शोभित होते हैं। स्वरूप में स्थित हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब सभी इन्द्रियों ने प्राण के ज्येष्ठत्व और श्रेष्ठत्व को स्वीकार कर लिया, तो प्राण ने उनसे एक प्रश्न पूछा। क्या पूछा ? प्राण ने कहा—"तुम सबने मुझे श्रेष्ठ तो मान लिया, किन्तु मेरे भोजन का कोई नाम निर्देश नहीं किया। मेरा भोजन क्या होगा ?"

तब वाग आदि इन्द्रियों ने कहा —"अच्छे-बुरे जितने पदार्थ हैं, सब तुम्हारे अन्न होंगे।" सबसे बुरे पदार्थ वे कहे जाते हैं, जिन्हें मनुष्य खाकर देह के छिद्रों द्वारा पुनः निकाल दे। खाये हुए को ऊपर के और नीचे के छिद्रों से प्राणी निकालते हैं। नीचे के छिद्रों से निकाले हुए को विष्ठा, मूत्र कहते हैं। ऊपर के मुख से निकाले हुए को वान्त-कै-उलटी-कहते हैं। विष्ठा और उलटी-कै-किये हुए पदार्थों से नीच-अशुद्ध-पदार्थ कोई नहीं। कुत्ता इन विष्ठा और वान्त-उलटी-दोनों को खाता है, अतः उसका अन्न यही है। पक्षी पवित्र फलों को ही खाते हैं। हंस केवल दुग्ध का सार भाग ही खाते हैं। दूध और फलों से पवित्र कोई आहार नहीं। इसलिये इन्द्रियों ने कुत्ता और पत्तियों से लेकर संसार के समस्त जीवों का जो भी कुछ आहार है, उस सबको अन्न कहा। अर्थात् अच्छे-बुरे, खोटे-खरे, उच्च-नीच जितने भी संसार के पदार्थ हैं, वे सब प्राण के अन्न हैं। 'अन' यह प्राण का प्रत्यक्ष बोधवाचक शब्द है। अर्थात् अन्न ही प्राण है। परन्तु आख्यायिका के अनुसार प्राणों का अन्न-अर्थात् आहार संसार की

सभी वस्तुएँ हैं। जो ज्ञानी पुरुष इस रहस्य को भली-भाँति जानकर इसका प्रत्यक्ष—साक्षात्कार—कर लेता है, तो उसके लिये कोई भी पदार्थ अभक्ष्य नहीं रह जाता। अर्थात् उसे अभक्ष्य भक्षण का दोष नहीं लगता। वह विधि निषेध से ऊपर उठ जाता है।

इसके अनन्तर प्राण ने वागादि इन्द्रियों से पूछा—"अच्छा, अन्न तो हो गया। मेरा वस्त्र क्या होगा?"

इन्द्रियोंने कहा—"यह जल ही आपका वस्त्र होगा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! वस्त्र तो तन ढकने के लिये होता है। जल से तन कैसे ढका जायगा। उसे आच्छादन कैसे कहा?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! अन्न को जब तक जल से ढका न जाय, तब तक वह पचता नहीं। प्राणों की पुष्टि नहीं करता। इसीलिये विद्वान् लोग भोजन के आदि में और भोजन के अन्त में आचमन करते हैं। बीच-बीच में जल पीते भी हैं, मानों अन्न को जल से आच्छादित करते हैं—ढक देते हैं। जो इस प्रकार भोजन के अन्त में अन्न को जल से आच्छादित करता है—ढक देता है—उसे आच्छादन-वस्त्र—की तथा अन्न की कमी नहीं रहती। वह विधिनिषेध से भी परे हो जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यही प्राणविद्या है। यही प्राणदर्शन है। जो इस प्रकार प्राणों को ज्येष्ठ-श्रेष्ठ मानकर, अच्छी बुरी सभी वस्तुओं का उसका भोजन और जल को आच्छादन—वस्त्र—मानकर विधिवत् उसकी उपासना करते हैं, वे निष्प्राण पदार्थ में भी प्राणों का संचार कर सकते हैं। इस विद्या का उपदेश व्याघ्रपद के पुत्र गोश्रुति को महर्षि सत्यकाम जाबाल ने किया था। उपदेश करके आचार्य सत्यकाम ने अपने शिष्य गोश्रुति से कहा था—"कोई व्यक्ति इस प्राणविद्या को भली-भाँति

जानकर इसे सूखे हुए ठूँठ–स्थाणु–को भी सुना देगा, तो वह ठूँठ हरा भरा हो जायगा, उसमें से शाखा निकलकर पत्ते फूटने लगेंगे। वह निर्जीव ठूँठ सजीव होकर लहलहाने लगेगा।"

शौनकजी ने पूछा—"उसे सूखे ठूँठ को सजीव करने को कौन सी और क्रिया करनी पड़ेगी ?"

सूतजी ने कहा—"उसे पहिले प्राणविद्या का ज्ञाता होना पडेगा। फिर एक मन्थ बनाना पडेगा।"

शौनकजी ने पूछा—"मन्थ कैसे तैयार किया जाता है, उसकी भी विधि बताइये ?"

सूतजी ने कहा—"श्रुति ने स्वयं ही मन्थ बनाने की विधि बतायी है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

आच्छादन कूँ जानि वस्त्रयुत होइ नग्न नहिं।
गोश्रुति के प्रति सत्य-काम जाबालसुधी कहिं॥
शुष्क ठूँठ प्रति कहे पत्र फलयुत है जावें।
हो महत्व की चाह मन्थ औषधिनि बनावें॥
मासक दीक्षित बनै, पन्द्रह दिन संयम करै।
पूनो की निशि औषधिहिं, दधि मधु सँग मन्थन करै॥

हत्व प्राप्त कराने वाले मन्थकर्म की विधि

[१६६]

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावस्यायां दीक्षित्वा
पौर्णमास्यां रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनो-
रुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्ना-
वाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥❀
(छां० उ० ५ प्र० २ खं० ४ म०)

छप्पय

हवन अगिनि कूँ बारि आज्य की आहुति देवै।
स्रुव में जो घृत बचै मन्थ में तिहि तजि देवै॥
ज्येष्ठ श्रेष्ठ, आयतन, प्रतिष्ठा वसिष्ठ संपद।
चतुर्थन्त्य इन करें लगावै स्वाहा कोविद॥
तब पुनि कछु हटि अगिनितैं, अमो न मासि हि मंत्र जपि।
यों विधिवत् वा मन्थ कूँ, पूत करै नियमादि तपि॥

❀ तदनन्तर कहते हैं यदि साधक को महत्व प्राप्त करने की वांछा हो, तो वह अमावास्या को दीक्षा ग्रहण करे, पन्द्रह दिन पश्चात् पूर्णिमा की रात्रि में सर्व औषधियों में दधि और मधु मिलाकर मन्थन करके मन्थ निर्माण करना चाहिये। फिर अग्नि में ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा इस मन्त्र से घृत का हवन करे। स्रुक में अवशेष घृत को मन्थ पर डालता जाय।

ससार चक्र से मुक्त होने के ज्ञान, कर्म और उपासना ये तीन मार्ग हैं। ज्ञानमार्ग त्याग वैराग्य प्रधान होता है। उसमें कर्मों का विशेष महत्त्व नहीं। कर्म किये भी जाते हैं, तो वे त्याग के लिये कर्म करने से अन्तःकरण में स्थित मल नष्ट हो जाता है, इससे त्याग वैराग्य की शक्ति बढ़ता है। ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से मुक्ति होती है। यही ज्ञानमार्ग है कर्ममार्ग में वर्ण और आश्रम सम्बन्धी कर्तव्य कर्मों की प्रधानता रहती है। कर्तव्य कर्मों को करते हुए चले जाओ, कभी न कभी तो ज्ञान होकर मुक्ति हो जायगी। कर्ममार्ग को यज्ञमार्ग धूममार्ग भी कहते हैं। उपासना मार्ग इसके मध्य का मार्ग है। उसमे यज्ञों की प्रधानता तो है किन्तु देवताओं को भगवान् का अग मानकर एक प्रकार से भगवान् को ही उपासना की जाती है।

वैदिकी उपासना को उपासना कहते हैं, उसका आधार वेद ही है। उपासना यदि पौराणिक पद्धति से की जाय, तो उसका नाम भक्ति होता है। शुद्ध तान्त्रिक मन्त्रों से या वैदिक तान्त्रिक दोनों ही मिले जुले मन्त्रों से यह पूजा या उपासना की जाती है। वैदिक उपासना की भाँति यह अग्नि में आहुति डालकर ही की जाती है ऐसी बात नहीं। यह उपासना या पूजा तो भगवान् की पत्थर की, लकड़ी की, धातु की, मिट्टी और चन्दन की, चित्र पट में बनी मूर्ति, बालुका की, मणि की या मनोमयी मूर्तियों में की जा सकती है। मिट्टी की वेदी में, अग्नि में, सूर्य में, जल में, ब्राह्मण में तथा अपने हृदय में भी की जा सकती है। यह पूजा पचोपचार षोडशोपचार तथा अन्य कई उपचारों के भेद से विविध प्रकार की होती है।

वैदिकी उपासना अग्नि में ही घृत तथा साकल्य की आहुति देकर वैदिक मन्त्रों द्वारा की जाती है। हवन कैसे करना चाहिये।

इसका विस्तार वेदों में है। कैसी ईंटों से, कितनी लम्बी चौड़ी वेदी बनायी जाय, कौन-सी वेदी किधर बनायी जाय, कैसे इष्टिका चयन कुशों का परिस्तरण किया जाय, अग्नि चयन कैसे किया जाय, यज्ञों में कौन-कौन सामग्री अपेक्षित हैं, यज्ञीय पात्र कितने हों, कैसे हों, किस धातु से, किस काष्ठ से निर्मित हों, उनका आकार प्रकार कैसा हो, कौन-सी आहुति किस देवता के उद्देश्य से, किस मन्त्र द्वारा दी जाय इन समस्त बातों का वर्णन वेदों में, गृह्यसूत्रों तथा स्मृति आदि ग्रन्थों में है। यहाँ हम उनका विस्तार से वर्णन करने में असमर्थ हैं। प्रकृत विषय का सम्बन्ध जिन-जिन वस्तुओं से है, उसी के सम्बन्ध में हम कुछ जानकारी करा देना चाहते हैं। जैसे सर्वौषधि है। औषधि उसे कहते हैं जो फूले फले। फल पक जाने पर स्वतः ही गिर जाय, नष्ट हो जाय। जैसे गेहूँ, जौ, चना, धान्य आदि हैं। दस ग्रामीण अन्न मिलाकर सर्वौषधि कहलाती हैं। वे दस अन्न ये हैं १–धान, २–जौ, ३–तिल, ४–उड़द, ५–सावाँ, ६–कँगुनी, ७–गेहूँ, ८–मसूर, ९–खल्व–मटर–और १०–कुलथी। ये सर्वौषधियाँ मन्थ कर्म में काम आती हैं।

अब मन्थ कार्य में जिन यज्ञीय पात्रों का उपयोग होता है, उनको भी समझ लेना चाहिये। इनमें मुख्य है स्रुवा।

(१) स्रुवा – स्रुवा उस यज्ञ पात्र को कहते हैं, जिससे घृत को तथा अन्य द्रव पदार्थ की आहुति दी जाती है। यह पात्र खैर या पर्ण की लकड़ी से बनाया जाता है। यह एक हाथ–दो वितस्ति–लम्बा होता है। लम्बी लकड़ी एक हाथ लम्बी और उसके मुख पर चम्मच की भाँति गोल गहरा हाथ के अग्रभाग के सदृश वृत्त बना रहता है, जिसमें घृत आदि भरकर आहुति देते — अग्रभाग में दो अँगूठे के सदृश परिमंडल होता

के सदृश खात–गड्ढा–होता है। दूसरा मुख्य पात्र है आज्य स्थाली।

(२) आज्यस्थाली—उसे कहते हैं जिसमें घृत भरा रहता है उसी में से स्रुवा को डुबो डुबोकर–घृत भरकर–आहुति देते हैं। वह सुवर्ण, चाँदी आदि तैजस् द्रव्यों से निर्मित हो अथवा मृत्तिका की भी आज्यस्थाली होती है। यह छोटी बड़ी घृत के परिमाणानुसार हो सकती है। किन्तु वह सुन्दर, सुदृढ छिद्र रहित हो। साधारणतया आज्यस्थाली चाहे धातु की हो अथवा मृत्तिका की हो। वह बारह अँगुल चौड़ी एक बिलस्त ऊँची हो। देखने में सुन्दर और मनोरम हो। तीसरा यज्ञीय पात्र चमस है।

(३) चमस—यह भी स्रुवा की भाँति होता है। इसका दण्ड चार अँगुल, कन्धा तीन अँगुल, चौड़ा चार अँगुल और लम्बा बारह अगुल का हो। यह ढाक (पलास) वट वृक्ष अथवा अन्य यज्ञ सम्बन्धी वृक्षों के काष्ठ से निर्मित होना चाहिये।

इध्म—जलाने की लकड़ी को इध्म कहते जिसे फूँकना कहते हैं। उसमें फूँक देकर अग्नि प्रज्वलित की जाती है।

उपमन्थनी—जिसके द्वारा मन्थन कर्म किया जाता है।

इस मन्थन कर्म में स्रुवा, चमस, इध्म और उपमन्थनी ये सबके सब गूलर के ही काठ से निर्मित होने चाहिये। यह इस कर्म के पात्रों में विशेष नियम बताया गया है।

सूतजी कहते—"मुनियो! आपने मुझसे मन्थ कर्म की विधि पूछी थी, इस सम्बन्ध में भगवती श्रुति ने बताया, कि जिसे महत्त्व प्राप्त करने की इच्छा हो, तो उसे अमावस्या से एक पक्ष की विधिवत् मन्थ कर्म की दीक्षा लेकर उपसद् व्रत करना चाहिये। यह व्रत उत्तरायण में प्रशस्त माना गया है। अमावास्या के दिन दीक्षित होकर संकल्प कर, शुभ वार पुण्य

तिथि में शुक्लपक्ष भर नियम से रहे। विधिवत् ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे, पृथ्वी पर शयन करे, व्यर्थ की बातें न करे, अथवा मौनव्रत धारण करे। अहिंसा, सत्य आदि धर्मों का पालन करे। इस प्रकार उपसद् व्रती होकर–केवल दुग्ध पीकर–ही रहे। पन्द्रह दिन व्रत करने के अनन्तर पूर्णिमा को रात्रि में मन्थ कर्म करे। पहिले समस्त सामग्रियों को एकत्रित कर ले। दश प्रकार के ग्राम्यअन्न, यज्ञीयपात्र और भी जो आवश्यक वस्तुयें हों, सबको पहिले से ही लाकर रख ले, जिससे बार-बार बीच में से उठना न पड़े। जहाँ हवन करना हो, उस स्थान का परिसमूहन करे। अर्थात् कुशाओं के मूँठे से उसे झाड़बुहार कर स्वच्छ करले। फिर वेदी को गोबर जल से परिलेपन करे। अर्थात् लीप ले। फिर विधिवत् अग्नि स्थापना करे। फिर वेदी के चारों ओर कुशाओं को बिछावे। घृत को अग्नि में तपाकर उसका परिशोधन करे। अर्थात् यह देख ले उसमें कोई तृण जीवजन्तु तो नहीं हैं। कोई निषिद्ध वस्तु हो उसे निकालकर फेंक दे। पुलिङ्ग वाले हस्त आदि नक्षत्र में यह मन्थ कर्म प्रशस्त माना गया है। अग्नि और अपने बीच में मन्थ को रखकर हवन करे। इसके पूर्व मन्थ को तैयार कर ले। दश ग्राम्यौषधि तथा वन्योषधि ले। उन्हें तुष रहित करके बिना भूने–कच्चे ही–पत्थर की शिला पर पीस ले। पीसकर जो पिट्ठी बने उसे कंसाकार या चमसाकार गूलर के काष्ठ से निर्मित पात्र में रख ले। उसमें दही और मधु मिला दे। फिर गूलर की ही उपमन्थनी से उसे मथे। अब मन्थ तैयार हो गया। उसे अग्नि और अपने बीच में रख ले। आज्यस्थाली में घृत भरकर स्रुवा से घृत की आहुति दे।

पहिले प्राण के जो ज्येष्ठ-श्रेष्ठ नाम में हैं, उनमें चतुर्थी विभक्ति लगाकर अन्त में स्वाहा कहकर आहुति दे। "...ाय

श्रेष्ठाय स्वाहा" ऐसा कहकर स्रुवा से आवसथ्याग्नि में आवापस्थान में घृत की आहुति दे। स्रुवा मे थोड़ा-सा घृत जो बच जाय, उस अवशिष्ट घृत को मन्थ के ऊपर डाल दे। यह तो पहिली आहुति हुई।

इसी प्रकार दूसरी आहुति "वसिष्ठाय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में आहुति दे और अवशिष्ट घृत को पूर्ववत् मन्थ में डाल दे। फिर तीसरी आहुति 'प्रतिष्ठायै स्वाहा' इससे दे। चौथी आहुति 'संपदे स्वाहा' इस मंत्र से दे। पाँचवीं आहुति 'आयतनाय स्वाहा' इस मन्त्र से दे। पाँचों मन्त्रों से आहुति देकर स्रुवा के अवशिष्ट घृत का स्राव मन्थ पर डालता जाय। बचे हुए घृत को संस्रव कहते हैं। इस प्रकार पाँच आहुति देकर संस्रव घृत को मन्थ पर डालकर हवन से निवृत्त हो जाय। फिर अग्नि से कुछ दूर हटकर मन्थ से भरे पात्र को अञ्जलि में ले और इस मन्त्र का जप करे। "ॐ अमो नामासि नामास्यमा हि ते सर्वमिद् सहि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्य सर्वमसानीति।" इस मन्त्र का एक माला तो जप करे ही। इस मन्त्र का भाव यह है कि "हे मन्थ! तुम्हारा नाम 'अम' है। अम प्राण का नाम है तुममें सम्पूर्ण जगत्-प्राणभूत-अवस्थित है। तुम ज्येष्ठ हो, श्रेष्ठ हो, राजा और सबके अधिपति हो। इसलिये तुम मुझे जेष्ठत्व-श्रेष्ठत्व राज्यऔर आधिपत्य प्राप्त कराओ। मैं सर्वरूप हो जाऊं।"

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! इस विधि से यह महत्व प्राप्त कराने वाला मन्थ तैयार हो गया। अब इसे भक्षण कैसे करना चाहिये। इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

कहे—मन्थ ! 'अम' नाम तुम्हारो सब जग अन्दर।
अवथित तुमरे साथ जगत तुम ज्येष्ठ श्रेष्ठवर॥
राजा अधिपति तुमहिँ देउ ज्येष्ठत्व श्रेष्ठपन।
आधिपत्य अरु राज्य कराओ प्राप्त सर्व मन॥
तीन पाद करि मन्थ के, प्रथम भाग भक्षण लहे।
मंत्र भाग पहिलो पढ़े, तत्सवितुर्वृणी महे॥

मन्थ भक्षण विधि तथा कर्म समृद्धि सूचक स्वप्न

तदेष श्लोको—यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्न निदर्शने-तस्मिन् स्वप्न निदर्शने ॥*

(छा० उ० ५ अ० २ खं ८ मं०)

छप्पय

द्वितिय भाग कूँ खाइ 'वयं देवस्य भोजनम् ।'
तृतीय भाग भखि जाइ श्रेष्ठ ँ सर्वधातमम् ॥
तुरिय भाग पढ़ि मन्त्र तुरं भागस्य धीमहिहितव ।
चमस कटोरा धोइ मन्थ को लेप पिये सब ॥
फेरि अगिनि पीछे चरम, शयन यज्ञ भू पै करै ।
प्राणी संयमकरि सुधी, सोवे दुःस्वप्ननि हरै ॥

कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक काम्य कर्म, दूसरे निष्काम

---

* मन्थ भक्षण के पश्चात् कर्म समृद्धि सूचक स्वप्न के सम्बन्ध में यह श्लोक है, इसका भाव यह है, कि जिस समय काम्यकर्मों का अनुष्ठान कर रहे हो, उस समय रात्रि में सोते समय स्वप्न में स्त्री का दर्शन हो, तो समझना चाहिये उस काम्यकर्म में समृद्धि होगी।

उचित मार्ग से चल रहा हूँ, मेरा साधन उत्तम रीति से चल रहा है। सिद्धियाँ सम्मुख न आवें तो उसे कैसे भरोसा हो, कि मेरा साधन उचित हो रहा है या अनुचित।

इसी प्रकार काम्यकर्मों के क्रिया कलापों में भी यही बात है। दिव्य ओषधियाँ, रसायन आदि तैयार की जायँ, शास्त्रोक्त विधि से मन्थ आदि तैयार किये जायँ, तो कैसे पता चले, कि हमारा यह कर्म सांगोपाङ्ग सम्पन्न हुआ या इसमें कुछ-जान में अनजान में विधि सम्बन्धी-त्रुटि रह गयी। इसका पता शुभ-अशुभ स्वप्नों द्वारा ही लग सकता है। यदि कर्म के अनन्तर साधक को शुभ स्वप्न होते हैं, तो समझना चाहिये हमारी यह क्रिया सांगोपाङ्ग सम्पन्न हुई। इसके विपरीत यदि अशुभ स्वप्न हों, तो समझना चाहिये इसमें कुछ न कुछ त्रुटि रह गयी। यही बात इस महत्त्व प्राप्ति की कामना से किये हुए मन्थकर्म के सम्बन्ध में भी है। मन्थ को भक्षण करने के अनन्तर स्वप्न में यदि लक्ष्मीस्वरूप नारी को देखे, तो समझना चाहिये हमारा मन्थकर्म सांगोपाङ्ग सम्पन्न हुआ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मन्थ तैयार होने पर उसका भक्षण किस विधि से करना चाहिये इसको बताते हैं। ऋग्वेद का एक यह चतुष्पाद मन्त्र है। 'तत्सवितुर्वृणीमहे, वयं देवस्य भोजनम्, श्रेष्ठं सर्वधातमम्, तुरं भगस्य धीमहि।' इस मन्त्र में चार पाद हैं। अतः एक एक पाद का उच्चारण करके चार बार में इस सम्पूर्ण मन्थ का पान करना चाहिये। जैसे—'तत्सवितुर्वृणीमहे॥' इस पाद को कहकर मन्थ का एक भाग पी जाय। फिर—'वयं देवस्य भोजनम्' इस पाद को पढ़कर दूसरे भाग को पी जाय तदनन्तर 'श्रेष्ठं सर्वधातमम्, इस पाद को पढ़कर तीसरे भाग को पी जाय। अन्त में 'तुरं भगस्य धीमहि' इस चतुर्थ

चरण को पढ़कर शेष बचे हुए समस्त मन्थ को पी जाय। फिर उस पात्र (कटोरे) अथवा चमस पात्र को धोवे। अथवा धोकर सबको पी जाय। इस प्रकार मन्थ का विधिवत् पान कर ले।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार पूर्णिमा को रात्रि में विधिपूर्वक मन्थ बनाकर उसका पान करे। अब यह देखना है, कि हमारा यह मन्थन कर्म सफल हुआ या नहीं। इसके लिये यह करे, कि जिस वेदी में हवन किया है उसके पीछे पूर्व की ओर सिर करके शयन करे। शयन या तो काले मृग की मृगछाला पर करे अथवा यज्ञशाला स्थण्डिल–केवल खाली भूमि–पर ही करे। सोते समय वाणी का संयम करे। और इस प्रकार से सावधानी के साथ शयन करे जिससे स्वप्न दर्शन से अभिभूत न हो। अर्थात् स्वप्न में स्त्री दर्शनादि से स्वप्न दोष न होने पावे। इस प्रकार रात्रि में सोते समय स्वप्नावस्था में उसे सात्विकी प्रसन्नमुद्रा में स्त्री के दर्शन हो जायँ, तो समझना चाहिये हमारा कर्म सफल हो गया।"

शौनकजी ने पूछा—"आपने जो चतुष्पाद ऋग्वेद का मन्त्र बताया, जिसके एक-एक पाद से चार बार में मन्थ का पान किया जाता है। उसका अर्थ क्या है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! मन्त्रों की तो शक्ति ही कार्य करती है। अर्थ तो गौण है। इसका अर्थ यही हुआ कि हम समस्त साधकगण विश्व ब्रह्माण्ड के उत्पादक–समस्त शरीरों में क्रीड़ा करने वाले परम प्रकाशवान उन प्राणदेव के सर्व विषयक–सर्वधारक–श्रेष्ठतम भोजन की प्रार्थना करते हैं। और शीघ्र ही सेवनीय जो सविता देवता हैं। उनके स्वरूप का ध्यान शुद्धचित्त से करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"स्वप्न में स्त्री दर्शन को कार्यसिद्धि का कारण क्यों बताया ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! वे महामाया श्रीदेवी ही अनेक रूपों से इस विश्वब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं। वे ही जगज्जननी जगन्माता है। वे ही विभूति की अधिष्ठातृ देवी हैं। वे ही लक्ष्मी गायत्री, सावित्री, श्री के रूप में अवस्थित हैं। जिस पर उनकी कृपा हो जाती है। उसे ही महत्व प्राप्त हो जाता है, उसे ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। देवताओं और असुरों ने मिलकर जब समुद्र मन्थन किया था, तो उसी मन्थन कार्य से समुद्र से श्री देवी प्रकट हुईं थीं। उन्होंने देवताओं की श्री वृद्धि की। इस मन्थन कार्य के समय भी यदि लक्ष्मी रूपा सौम्या नारी के दर्शन स्वप्न में भी हो जायँ, तब समझना चाहिये समस्त विभूति की आधिष्ठातृ देवी हम से प्रसन्न है। इस मन्थन कर्म का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् के अतिरिक्त भी बृहदारण्यकादि अन्य उपनिषदों में भी है। जिनका वर्णन यथा स्थान किया जायगा। इस स्वप्न के सम्बन्ध में एक प्राचीन श्लोक भी है, जिसका भाव है—काम्य कर्म करते काल में स्वप्न में स्त्री दृष्टिगोचर हो, तो उस स्वप्नदर्शन का फल यही है कि कार्य में सफलता अवश्य मिलेगी, इस कर्म फल में समृद्धि होगी। कर्म की निष्पत्ति अवश्यम्भावी है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह मैंने मन्थन कर्म की विधि मन्थ भक्षण का विधान तथा कर्म समृद्धि सूचक स्वप्न के सम्बन्ध में बताया। अब जैसे मुमुक्षु पुरुषों को वैराग्य हो, इसके निमित्त श्वेतकेतु और प्रवाहण के सम्वाद रूप में जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

स्वप्न माहिँ यदि लखै सुंदरी मनहर नारी।
तो निश्चय करि लेइ कामना पूर्ण हमारी॥
जाई कूँ श्रुति कहै ऋचा में यों दरसावै।
काम्यकर्म में स्वप्न माहिं नारी दिखि जावै॥
ो दृढ़ यह निश्चय करै, समृधि कर्म में होइ भ्रुव।
न्थ कर्म की विधि यही, कही यथावत तुमहिँ छव॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
द्वितीय खण्ड समाप्त।

श्वेतकेतु और प्रवाहण सम्वाद

(१७१)

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति ॥*

(छा० उ० ५ म० ३ ख० १ म०)

छप्पय

आरुणि को सुत श्वेत-केतु पंचाल देश जहँ।
जीवल नृप-सुत रहें प्रवाहण गयो समिति महँ॥
विप्र प्रवाहण कहे—कुमर ! तव पिता पढ़ायो।
हाँ भगवन्, जब कह्यो प्रश्न पूछें बतलाओ॥
प्रजा जाइ जा लोक तें, करें बास कहँ ज्ञात है!
कैसे पुनि इहि लोक में, आवे यह विज्ञात है!!

संसार में प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग दो मार्ग ही प्रधान हैं। जिनके जीवन का लक्ष्य परम पुरुषार्थ मोक्ष है, आत्मानुभूति

---

* श्वेतकेतु जो आरुणि के पुत्र थे, वे एक बार पांचाल देश के राजा की समिति में गये। वहाँ महाराज जीवल के पुत्र राजकुमार प्रवाहण ने पूछा—"हे ऋषिकुमार ! क्या तुम्हारे पिताजी ने तुम्हें शिक्षा दी है ?" इस पर श्वेतकेतु ने कहा—"हाँ, भगवन् ! मैंने पिताजी से शिक्षा प्राप्त की है।"

है। वे निवृत्ति और प्रवृत्ति दो मार्गों द्वारा ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। निवृत्ति मार्ग में आरम्भ से ही इस लोक तथा परलोक के भोगों के प्रति निस्पृह बना रहना पड़ता है। उसमें विषयों से वैराग्य और संसारी भोगों के त्याग की ही प्रधानता रहती है। प्रवृत्ति मार्ग में धर्मपूर्वक इस लोक के तथा परलोकों के सुखों को भोगते हुए क्रम-क्रम से मुक्ति तक पहुँचना होता है। इसको पिपीलिकामार्ग भी कहते हैं। जैसे चींटी शनैः-शनैः चलकर अन्त में अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाती है। त्यागमार्ग विहङ्गम मार्ग है, जैसे पत्ती आकाश में उड़कर तुरन्त अपने गन्तव्य तक पहुँच जाते हैं। त्यागमार्ग वालों को त्याग वैराग्य तथा ज्ञान की उत्कटता के कारण किन्हीं अन्य लोकों में जाना नहीं पड़ता उनकी इस शरीर के अन्त हो जाने पर सद्यः मुक्ति हो जाती है, किन्तु प्रवृत्तिमार्ग के साधक की शनैः-शनैः अनेक लोकों में जाते हुए कई जन्मों के पश्चात क्रमशः मुक्ति होती है। उसे क्रममुक्तिमार्ग कहते हैं। जो धर्माचरण करते ही नहीं वेद शास्त्र तथा परलोक को मानते ही नहीं, जो इस शरीर को ही सब कुछ मानकर इसी के पालन-पोषण और पुष्ट करने में लगे रहते हैं, वे साधक–मनुष्य–नहीं कहे जा सकते, वे तो नारकीय जीव हैं। बार-बार जन्मते मरते हुए नाना योनियों में उत्पन्न होकर क्लेश भोगते रहते हैं।

प्राचीन काल में जब इस देश में वर्णाश्रम धर्म का पूर्णरीत्या पालन किया जाता था, तब ब्राह्मण और क्षत्रिय दो ही वर्ण अकरद थे। अर्थात् इन दोनों को राज्य का कर नहीं देना पड़ता था। शेष वैश्य, शूद्र तथा अन्त्यज ये करद–प्रजा–कहलाते थे। इन्हें राज्य को कर देना पड़ता था। राज्य के शासन में रहना पड़ता था। क्षत्रिय तो शासक ही होते थे। सम्पूर्ण राज्य धन

के स्वामी ही होते थे। ब्राह्मण त्यागी तपस्वी तथा असग्रही होते थे। तप ही उनका धन होता था अतः वे तपोधन कहलाते थे। अपने त्याग तप के कारण वे सर्ववन्द्य होते थे। अच्छे अच्छे चक्रवर्ती राजा उनके सम्मुख भय से थर थर काँपते थे। ब्राह्मण त्याग तथा ज्ञानप्रधान होते थे और वे राजागण भोगप्रधान होते थे। किन्तु उन राजाओं में भी कोई कोई ऐसे ज्ञानी होते थे, कि अच्छे-अच्छे त्यागी तपस्वी, ब्राह्मण भी उनका शिष्यत्व स्वीकार करके उनसे ब्रह्मविद्या सीखने आते थे। इन राजर्पियों में से पाञ्चाल देश के जीवलपुत्र प्रवाहण राजा का नाम उपनिषद्-तथा अन्यान्य ग्रन्थो में बहुत आता है। वे उस समय के राजर्पियों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी माने जाते थे।

गौतम वंश में वाजश्रवा नाम के एक महर्षि हुए हैं। उनके पुत्र अरुण हुए। अरुण के पुत्र आरुणि हुए जो उद्दालक के नाम से भी विख्यात हुए। उन आरुणि के एक पुत्र नचिकेता हुए दूसरे श्वेतकेतु ये आरुणि महर्षि पाञ्चाल देश में ही निवास करते थे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आरुणि ऋषि का नाम उद्दालक क्यों पड़ा ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! महाभारत के आदि में ही पौष्य पर्व में महर्षि आरुणि-उद्दालक-की कथा आती है। उन दिनों आयोद् धौम्य नाम के एक महर्षि आचार्य थे। उनके समीप ही आरुणि महर्षि पढ़ते थे। उनके आरुणि के अतिरिक्त उपमन्यु और वेद नाम के भी दो शिष्य थे। अन्त में उपमन्यु तो गोत्र प्रवर्तक हुए। ये दो भी विख्यात आचार्य हुए।"

हाँ तो आयोद् धौम्य आचार्य बहुत कड़े थे, वे अपने शिष्यों से बहुत कड़ी-कड़ी सेवा लेते थे।

एक दिन वर्षाकाल में आचार्य ने आरुणि से कहा—"वत्स! जाओ वर्षा होने ही वाली है तुम धान के खेत की मेड़ बाँध आओ जिससे खेत का पानी बाहर न निकलने पावे।"

आरुणि छोटा-सा बालक ही था, वह खेत पर पहुँचा तो वेग से वर्षा होने लगी। खेत में एक गड्ढा था उसमें से पानी बाहर निकल रहा था। आरुणि ज्यों ही उस पर मिट्टी डालता त्यों ही पानी का वेग उस मिट्टी को वहा ले जाता। पूर्ण प्रयत्न करने पर भी जब वह उस मेड़ के गड्ढे को न पाट सका, तो अन्त में उसे एक उपाय सूझा। वह स्वयं उस गड्ढे मे मेड़ बन कर लेट गया। इससे पानी रुक गया। उसी समय आश्रम पर किसी काम से बाहर गये हुए आचार्य लौटकर आये। आते ही उन्होंने अन्य शिष्यों से पूछा—"पांचाल देशीय वह आरुणि दिखायी नहीं देता, वह कहाँ चला गया?"

शिष्यों ने कहा—"भगवन् आपकी आज्ञा से वह धान के खेत की मेड़ बाँधने गया था, पता नहीं अभी तक क्यों नहीं लौटा?"

आचार्य ने कहा—"चलो, चलें देखें वह क्यों नहीं आया?"

यह कहकर वे शिष्यों सहित खेत पर पहुँचे। वहाँ आरुणि को न देखकर उन्होंने उसे उच्च स्वर से पुकारा। गुरु का स्वर सुनकर आरुणि उठकर आया। उसने हाथ जोड़कर गुरु को सब वृत्तान्त सुनाया। सुनकर गुरुदेव बहुत प्रसन्न हुए और आशीर्वाद दिया—"विना पढ़े ही तुम्हें सब वेद आ जायेंगे। तुम खेत के बाँध को तोड़कर चले आये हो, इसलिये आज से तुम (उत्+दालक) उद्दालक के नाम से प्रसिद्ध होगे। तभी से गौतम गोत्रीय आरुणि उद्दालक के नाम से विख्यात हुए। उनके पुत्र नचिकेता

की कथा तो कठोपनिषद् में आ ही गयी है। अब इस छांदोग्य उपनिषद् में उनके दूसरे पुत्र श्वेतकेतु का जो संवाद राजा प्रवाहण से हुआ है उसे मुमुक्षुओं के वैराग्य के निमित्त तथा जगत् की गति का बताने के निमित्त किया जाता है।"

एक समय आरुणि ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु घूमते-फिरते पाचाल देश के राजाओं की सभा में आये। पाचाल देशाधिराजा धर्मात्मा और ज्ञानी विख्यात ही थे। श्वेतकेतु अभी-अभी स्नातक होकर ज्ञानार्जन करके पिता के यहाँ से समावर्तन संस्कार कराकर आये थे। उन्हें अपने ज्ञान का अभिमान था। सोचा होगा, राजा की समिति में चलें, वहाँ ज्ञानचर्चा करेंगे। वहाँ कुछ दान दक्षिणा प्राप्त होगा, तो उससे किसी सुयोग्य कन्या से विवाह कर लेंगे।

समिति में उन्होंने जीवल के पुत्र प्रवाहण राजा को देखा। राजा देखते ही समझ गये। यह अभी समावर्तन कराकर स्नातक आया है। अतः पूछा—"कहो, विप्रवर! अभी विवाह नहीं किया ?"

श्वेतकेतु ने कहा—"नहीं राजन्! मैं अभी कुमार ही हूँ। अभी-अभी अपने पूज्य पिता के यहाँ से समावर्तन संस्कार कराकर लौटा हूँ।"

प्रवाहण ने पूछा—"तुम पिता के ही पास शिक्षा प्राप्त करते थे ?"

श्वेतकेतु ने कहा—"हाँ, मैं अपने पूज्य पिताजी से ही शिक्षा प्राप्त करता था।"

प्रवाहण ने पूछा—"तुम्हारे पिताजी ने तुम्हें क्या क्या शिक्षा दी है ?"

श्वेतकेतु ने कहा—"उन्होंने सभी कुछ सिखाया है।"

प्रवाहण ने कहा—"हम कुछ पूछें ?"

श्वेतकेतु ने कहा—"हाँ, पूछिये।"

प्रवाहण ने कहा—"अच्छा, कुमार ! यह बताओ, इस मर्त्य-लोक से जाने पर प्रजा कहाँ जाती है ?" (१)

श्वेतकेतु ने कहा—"नहीं भगवन् ! मुझे मालूम नहीं है।"

प्रवाहण ने कहा—"दूसरा हमारा प्रश्न यह है क्या तुम जानते हो मरकर फिर प्रजा इस लोक में कैसे आती है ?" (२)

श्वेतकेतु ने कहा—"नहीं, भगवन् ! इसे भी मैं नहीं जानता।"

प्रवाहण ने पूछा—"अच्छा, तीसरा प्रश्न हमारा यह है, तुम जानते हो तो बताओ दो मार्ग हैं एक देवयान दूसरा पितृयान इन दोनों मार्गों का किस स्थान पर जाकर विच्छेद होता है ? दोनों कहाँ जाकर विलग होते हैं ?" (३)

श्वेतकेतु ने कहा—"नहीं, भगवन् ! मैं इसे भी नहीं जानता।"

तब प्रवाहण ने कहा—"अच्छा, हमारा चौथा प्रश्न और है, तुम उसके सम्बन्ध में जानते हो, तो बताना। नित्य ही इतने आदमी मरकर पितृलोक को जाते रहते हैं, वह पितृलोक भरता क्यों नहीं ?" (४)

श्वेतकेतु ने कहा—"नहीं, भगवन् ! मैं इसे भी नहीं जानता।"

तब प्रवाहण ने कहा—"अब अन्तिम पाँचवा प्रश्न हमारा और है, तुम जानते हो तो इसका उत्तर दो। पाँचवीं आहुति के हवन कर दिये जाने पर (घृतादि रस) पुरुप संज्ञा को किस प्रकार प्राप्त होते हैं ?" (५)

श्वेतकेतु ने कहा—"नहीं भगवन् ! मैं इसे भी नहीं जानता।"

तब हँसकर प्रवाहण ने कहा—"फिर तुम कैसे कहते हो, मेरे पिता ने मुझे सब प्रकार की शिक्षा दी है।" संसार में जानने योग्य मुख्य प्रश्न तो ये पाँच ही हैं। जो व्यक्ति इन पाँचों बातों को नहीं जानता, वह अपने को शिक्षित-विज्ञाता-अनुशिष्ट-कैसे कह सकता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! श्वेतकेतु का उत्तर न देने से अभिमान चूर हो गया अपने पराभव से उसे बड़ा दुःख हुआ। दुखी होकर वह पुनः लौटकर अपने पिता के पास आया और पिताजी से दुखी होकर बोला—"पूज्य पिताजी ! मुझे पूर्ण शिक्षा दिये बिना ही आपने यह कहकर कि मैंने तुझे सम्पूर्ण शिक्षा दे दी है मेरा समावर्तन संस्कार क्यों कर दिया ?"

पिता ने कहा—"बात क्या है ? मैंने तो तुझे अपनी बुद्धि के अनुसार पूर्ण रूप से शिक्षा दे ही दी थी।"

श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी ! मैं इस पांचाल देश के राजा प्रवाहण की समिति में गया था। उन्होंने मुझसे पाँच प्रश्न किये थे। उनमें से मैं एक का भी उत्तर न दे सका। तब क्षत्रबन्धु उस राजा ने हँसकर मुझसे कहा—"तुम तो कहते थे मेरे पिता ने मुझे पूर्ण शिक्षा दे दी है, जब तुम इन महत्व पूर्ण पाँच प्रश्नों का ही उत्तर नहीं दे सकते तो क्यों कहते हो मुझे पूर्ण शिक्षा दी गयी है।"

पिता ने पूछा—"तुमसे राजा प्रवाहण ने कौन-कौन से पाँच प्रश्न पूछे थे ?"

श्वेतकेतु ने कहा—"राजा ने पहिला प्रश्न तो मुझसे यह पूछा था कि (१) इस लोक से प्रजाजन कहाँ जाते हैं। (२) दूसरा प्रश्न यह पूछा कि फिर प्रजाजन लौटकर इस मर्त्यलोक में कैसे आते हैं। (३) तीसरा प्रश्न यह पूछा कि देवयान और पितृयान

इन दोनों मार्गों का विलग होने का स्थान कौन-सा है। (४) चौथा प्रश्न उन्होंने यह पूछा कि इतने लोगों के नित्य मरने पर भी यह पितृलोक भरता क्यों नहीं है। और (५) पाँचवाँ प्रश्न यह पूछा कि पाँचवीं आहुति के हवन कर दिये जाने पर आप (सोम घृतादि रस) पुरुष संज्ञा को कैसे प्राप्त होते हैं।" ये ही उनके पाँच प्रश्न थे। इनमें से मैं एक का भी उत्तर न दे सका, क्योंकि आप ने इनके सम्बन्ध की मुझे कुछ शिक्षा ही नहीं दी थी। उस क्षत्रियबन्धु ने हँसते-हँसते मुझे पराभूत कर दिया।

इस पर महर्षि आरुणि ने कहा—"तुमने आकर जो मुझे ये पाँच प्रश्न बताये हैं, वास्तव में मैं भी उनमें से एक का भी उत्तर नहीं जानता। जब मैं स्वयं ही नहीं जानता, तो तुम्हें बताता कैसे? यदि मुझे इनका उत्तर ज्ञात होता तो तुम तो मेरे औरस पुत्र हो, प्रिय शिष्य हो, भला तुम्हें मैं क्यों न बताता? चलो, हम पिता पुत्र दोनों ही चलकर उस राजा से ही नम्रतापूर्वक इन प्रश्नों का उत्तर पूछें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब पुत्र को लिये हुए पिता जैसे प्रवाहण राजा के यहाँ जायेंगे और उनसे इन प्रश्नों का उत्तर पूछेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

देवयान अरु पितरयान बिलगाईं कहाँ पै।
पितर-लोक क्यों भरै नहीं नर जाईं जहाँ पै॥
पंचम आहुति हुते आप कस पुरुष संज्ञ है।
पाँच प्रश्न जब करे कुमर 'ना' करी अज्ञ है॥
कहैं प्रवाहण—प्रश्न यदि, पंच न जानो फेरि तुम।
कैसे निज मुख तैं कहो, पितु तैं शिक्षा लई हम॥

प्रश्न पयोधि पार हेतु पिता–पुत्र का प्रवाहण के पास प्रस्थान

[१७२]

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्चकार स ह प्रातः सभाग उदेयाय त ँ होवाच मानुष्यस्य भगवन् गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति । स होवाच तवैव राजन् मानुष वित्तं यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति स ह कृच्छ्री बभूव ॥*

(छा० उ० ५ अ० ३, ख० ६ म०)

छप्पय

पराभूत ह्वै श्वेत–केतु पुनि पितु ढिँग आयो ।
सकल प्रवाहण वृत्त आदि तैं आइ सुनायो ॥
पितु बोले–जो प्रश्न न उत्तर हौं हू जानूँ ।
पूछे चलिके ताहि नृपति कूँ पंडित मानूँ ॥
पास प्रवाहण पुत्र पितु–गये नृपति आदर करयो ।
दयो लोभ धन नहीं जब–लयो कह्यो चिर इत रहो ॥

---

* पुत्र सहित आरुणि गौतम राजा के निवास पर आये। राजा ने उनकी अतिथि मानकर पूजा की। द्वितीय दिवस गौतम प्रात काल ही राजा की सभा में गये। राजा ने कहा—"भगवन् गौतम ! आप मनुष्य सम्बन्धी धन माँग लीजिये।" तब ऋषि ने कहा—"मनुष्य सम्बन्धी धन तो आप पर ही रहे। मेरे कुमार से जो आपने पाँच प्रश्न पूछे थे मुझे तो उन्हीं का उत्तर बताइये।" यह सुनकर राजा संकट में पड़ गया।

ज्ञान दान सबसे श्रेष्ठ दान है। ज्ञानधन सबसे श्रेष्ठ पात्र है। जिसके पास ज्ञान है, वह आयु में, धन में, कुल में, वर्ण में तथा परम्परा में अपने से कनिष्ट भी हो, तो उसे श्रेष्ठ ही मानना चाहिये और जैसे हो तैसे उससे उस ज्ञान को प्राप्त कर लेना चाहिये। यदि अपावन स्थान में भी सुवर्ण पड़ा हुआ हो तो बुद्धिमान उसे ग्रहण कर ही लेते हैं। जैसे स्त्री रत्न दुष्कुल में भी हो तो उसे पुरुष ग्रहण कर लेते हैं। ये सांसारिक धन तो नाशवान् हैं, क्षणभंगुर हैं, अन्तवन्त हैं। ज्ञानरूप धन अविनाशी है, शाश्वत तथा अनन्त है। अतः ज्ञान प्राप्ति के निमित्त जितनी तपस्या करनी पड़ें। जितने संयम, नियम तथा अनुष्ठानादि करने पड़ें, उन सबको करके भी ज्ञानार्जन कर लेना चाहिये। मुमुक्षुओं को ज्ञान प्राप्ति में किसी प्रकार का आलस्य, प्रमाद तथा संकोच नहीं करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब श्वेतकेतु ने पांचालों की समिति में घटी घटना को अपने पूज्य पिताजी के पास जाकर सुनाया। और वे पाँच प्रश्न भी बताये जिनका उत्तर वे नहीं दे सके। तब पिता ने बड़ी सरलता से परमशालीनता से स्पष्ट यही सत्य बात अपने पुत्र से कह दी—"वत्स! इन प्रश्नों का उत्तर तो मैं भी नहीं जानता। चलो उस राजा से ही चलकर इन प्रश्नों के उत्तर पूछें।"

यद्यपि श्वेतकेतु प्रतीत होता है, अपनी पराजय से क्षुब्ध हो गया था। सभा में तो उसने राजा प्रवाहण को भगवन्-भगवन् करके सम्बोधित किया, किन्तु यहाँ पिता के समीप आकर अपना रोष प्रकट करते हुए राजा को 'राजन्यबन्धु' कहा। राजन्य बन्धु या क्षत्रबन्धु नीच क्षत्रिय को कहते हैं। वास्तव में जो क्षत्रिय न होकर वर्ण संकर हो। क्षत्रियों से केवल उसका ऊपर से

वन्धुत्व का सम्बन्ध हो। जैसे स्त्री, शूद्र और द्विजबन्धु इन तीन को श्रुति का अनधिकारी माना है। द्विजबन्धु का अर्थ है नीच द्विज—संस्कार हीन, संकरता दोष से युक्त द्विजातिगण। यही अर्थ राजन्यबन्धु या क्षत्रबन्धु का है। किन्तु उसके पिता बुद्धिमान थे मुमुक्षु थे, ज्ञानार्जन में उनकी रुचि थी। पुत्र के रोषपूर्ण वचनों पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। उन्होंने पुत्र से यही कहा—"चलो, उन राजर्षि प्रवाहण से ही चल कर इन प्रश्नों का उत्तर पूछें।"

जब पिता स्वयं ही उस व्यक्ति के पास जिज्ञासु बनकर जाने को उद्यत हैं, जिसने मुझे पराजित कर दिया है। तब पुत्र क्या करता। पिता के साथ वह भी पाञ्चाल देश की राजधानी काम्पिल्य की ओर चल दिया। पिता पुत्र दोनों ही राजा प्रवाहण के महलों में पहुँचे। आरुणि ऋषि को अपने यहाँ आया देखकर राजा प्रवाहण अपने आसन पर से उठकर खड़े हो गये। शास्त्रीय विधि से राजा ने दोनों पिता तथा पुत्र की पूजा की। दोनों ने ही शास्त्रीय विधि से राजा की पूजा को स्वीकार किया।

रात्रि हो चुकी थी, अतः राजा ने कहा—"भगवन्! आप दूर से आये हैं, थक गये होंगे। रात्रि में भोजन करके सुखपूर्वक विश्राम करें। कल बातें होंगी।"

मुनि ने राजा की बात मानकर भोजन करके अतिथिशाला में सुखपूर्वक शयन किया। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही, मुनि अपने नित्यकर्म से निवृत्त होकर उस समय राजा की सभा में गये, जिस समय राजा राजपरिषद् में पहुँच चुके थे। अपनी सभा में ऋषि के पहुँचने पर राजा ने उनका अभिनन्दन किया।

पहिले राजाओं की सभाओं में सदा धर्मचर्चा ही हुआ करती थी। दूर-दूर से ब्राह्मण नाना कामनाओं की पूर्ति के

निमित्त राजसभाओं में राजाओं से याचना करने आया करते थे और धर्मप्राण राजागण यथाशक्ति यथासामर्थ्य उनकी इच्छाओं की पूर्ति किया करते थे।

राजा प्रवाहण ने भी शिष्टाचार के रूप में पूछा—"ब्रह्मन्! आपने कैसे कृपा की? केवल मुझे आशीर्वाद देने के ही निमित्त आप पधारे हैं, या कोई आपका और कार्य है। कोई कार्य हो तो उसे बिना संकोच के मुझसे कहें।"

महामुनि आरुणि ने कहा—"राजन्! मैं कुछ इच्छा लेकर आप से याचना करने आया हूँ।"

राजा ने बड़े उत्साह के साथ कहा—'कहिये-कहिये, आप मुझे आज्ञा दीजिये। आप मुझसे ग्राम, धन, धान्य वाहन जो भी चाहें माँगे। मेरा सर्वस्व ब्राह्मणों के ही लिये है। आप मनुष्य सम्बन्धी जो भी भोग पदार्थ धन चाहें मुझसे माँग लें।"

मुनि ने कहा—"राजन्! मैं मनुष्य सम्बन्धी धन माँगने आपके पास नहीं आया हूँ। ये मनुष्य सम्बन्धी धन आपके ही पास रहें।"

राजा ने कहा—"तब आप क्या चाहते हैं?"

मुनि ने कहा—"राजन्! यह मेरा पुत्र श्वेतकेतु है, यह आपकी सभा में आया था। इससे आपने ५ प्रश्न पूछे थे। उन प्रश्नों का उत्तर यह नहीं दे सका। इसने जाकर ये ही प्रश्न मुझसे पूछे। मैं भी इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता था। अतः हम उन्हीं प्रश्नों के उत्तर की जिज्ञासा से आपके समीप आये हैं। कृपा करके जो प्रश्न आपने इससे पूछे थे उन्हीं का उत्तर मुझे बताइये।"

राजा ने सोचा—"ब्राह्मण ने तो बहुत बड़ी वस्तु माँग ली। अब इस इतने बड़े ज्ञान को सहसा इन ब्राह्मण को कैसे दूँ।

अपात्र को दी हुई वस्तु व्यर्थ हो जाती है। और पात्रता की परीक्षा चिरकाल तक समीप मे रहने से ही होती है। अतः न्यून से न्यून एक वर्ष पर्यन्त जो समीप न रहे, उसे ज्ञानदान नहीं करना चाहिये। यही सब सोचकर राजा ने मुनि को उत्तर दिया।"

राजा ने कहा—'ब्रह्मन्! आप सर्वविद्या सम्पन्न सब वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं। मैं द्वितीय वर्ण का क्षत्रिय हूँ। तथापि यह विद्या पूर्वकाल मे ब्राह्मणों के पास नहीं थी। क्षत्रीय ही इस विद्या के आचार्य थे और सुपात्र योग्य क्षत्रियो को ही यह प्रदान की जाती थी। राजर्षियो मे ही यह विद्या प्रचलित थी। ब्राह्मणों ने न इनकी जिज्ञासा की न उन्हें यह प्राप्त हुई। आप पहिले ब्राह्मण हैं। जिन्होंने क्षत्रिय के समीप आकर इस विद्या की जिज्ञासा की है। किन्तु ब्रह्मन्! मुझे क्षमा करें विद्या का नियमानुसार ही उपदेश करने का विधान है। आप यहाँ जिज्ञासु भाव से मेरे समीप चिरकाल तक निवास करें। फिर मैं यथा समय आपको इसका उपदेश करूँगा।"

महामुनि आरुणि ने कहा—"अच्छी बात है राजन्! मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। आपके अनुशासन में रहकर जब तक आप कहेंगे, तब तक यहाँ निवास करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! ऐसा कहकर मुनि राजा के समीप पाञ्चाल देश की राजधानी काम्पिल्य मे निवास करने लगे।"

महामुनि को सच्चा जिज्ञासु समझकर एक दिन राजा ने कहा—"मुनिवर मैंने आपके पुत्र मे ५ प्रश्न पूछे थे। उनमें पहिला प्रश्न तो यह था कि १. इस लोक से प्रजाजन कहाँ जाते हैं? दूसरा प्रश्न था, २. प्रजाजन फिर लौटकर यहाँ कैसे आते

हैं ? तीसरा प्रश्न था ३. देवयान और पितृयान मार्ग कहाँ जाकर विलग होते हैं । चौथा प्रश्न था ४. इतने लोगों के नित्य मरने पर भी पितृलोक भरता क्यों नहीं ? और पाँचवाँ प्रश्न था ५. पाँचवीं आहुति के हवन कर दिये जाने पर आप (सोमघृतादि रस) पुरुष संज्ञा को कैसे प्राप्त होते हैं ? सो पहिले मैं आपको पाँचवें प्रश्न का ही उत्तर दूँगा, क्योंकि इस प्रश्न का उत्तर समझ लेने पर अन्य प्रश्नों को समझने में आपको सुविधा होगी ।"

महामुनि आरुणि ने कहा—"राजन् ! आप जैसे भी उचित समझें वैसे ही करें । अच्छी बात है पहिले आप मुझे पाँचवें प्रश्न का ही उत्तर दें ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अब राजा प्रवाहण जैसे पाँचवे प्रश्न का उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा ।"

छप्पय

विप्रनि पै यह नहीं सु–विद्या कह्यो प्रवाहन ।
स्वर्गलोक ही अगिनि समिध आदित्य सु–पावन ॥
किरन धूम, दिन ज्वाल चन्द्र अङ्गार कहावें ।
विस्फुलिङ्ग नक्षत्र अगिनि सुर हवन करावें ॥
स्वर्ग अगिनि आहुति दिये, सोमराज प्रकटित भयहु ।
उत्तर पंचम प्रश्न को, भू रूपा अगिनिहिँ सुनहु ॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के पञ्चम अध्याय में
तृतीय खंड समाप्त ।

—:—:—

प्रवाहण द्वारा अपने पूछे प्रश्नों में से सर्वप्रथम पञ्चम प्रश्न का उत्तर

[१७३]

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो-
धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥*

(छा० उ० ५ प्र० ४ ख० १ मं०)

छप्पय

स्वरग अगिनि सुर करें हवन श्रद्धा आहुति दै ।
सोमराज उत्पन्न प्रथम आहुति साइ है ॥
कही अगिनि पर्जन्य वायु समिधा धुम अभ्रहु ।
विद्युत् ज्वाला वज्र-अंगारे गर्ज चिनगारिहु ॥
करें हवन सुर सोम का, सोम कही आहुति द्वितिय ।
भूमि अगिनि सवत् समिध, नभ धूँआ ज्वाला निशिहि ॥

जैसे सविधि किया हुआ यज्ञ ही परलोक सम्बन्धी अदृष्ट बनाने मे समर्थ होता है, वैसे ही शास्त्रीय विधि से किये हुए गर्भाधान

---

* राजा प्रवाहण सर्वप्रथम पंचम प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं—"हे गौतम गोत्रीय आरुणिजी ! द्यु अर्थात् स्वर्ग ही अग्नि है। सूर्य उसकी समिधा हैं, उस सूर्य की किरणें ही मानों धूँआ हैं। दिवस उस अग्नि की ज्वाला हैं। चन्द्रमा उस जली समिधा के अंगारे हैं, और नक्षत्र ही उस जलती अग्नि में से उड़ती हुई चिनगारियाँ हैं।"

संस्कार द्वारा ही संस्कारी–मोक्ष की अधिकारिणी–संतान उत्पन्न होती है। अतः माता-पिता को शास्त्रीय विधि जानकर शास्त्रीय नियमानुसार गर्भाधान करना चाहिये। जैसे विधिहीन सामग्री अग्नि में जला देने से पुण्यकर्मों का अदृष्ट उत्पन्न नहीं होता, वह पदार्थ व्यर्थ ही जाते हैं। वैसे ही पशु पक्षियों की भाँति काम वासना की तृप्ति हेतु जो संगम करते हैं, उनकी सन्तानें पशु पक्षियों की भाँति मुक्ति की अनधिकारिणी होती हैं। उनमें और पशुओं में कोई भी अन्तर नहीं होता। जैसे पशु-पक्षी वद्धजीव हैं बिना साधन किये कर्मानुसार उत्पन्न होते और मरते रहते हैं, वैसे ही मनुष्य योनि के वे वद्धजीव भी जन्मते मरते रहते हैं।

सब जीवों में चार इच्छाएँ स्वाभाविक रहती हैं। एक तो जीवित रहने की इच्छा, दूसरी आहार ग्रहण करने की इच्छा, तीसरी सोने की इच्छा और चौथी मिथुन होने की इच्छा। ये इच्छायें जीवमात्र में स्वाभाविक होती हैं, । मुमुक्षु जीवों में एक संसार चक्र से मुक्त होने की इच्छा विशेष रहती है। अतः वह सभी कर्मों को करता तो है किन्तु उन्हें कुशलता पूर्वक करता है। कुशलता पूर्वक किये हुए कर्म ही योग कहलाते हैं। अतः वह योगयुक्त होकर कर्म करता है।

दृष्टान्त के लिये सन्तानोत्पत्ति को ही ले लो। पशु-पक्षी या अज्ञ पुरुष स्वाभाविकी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर मिथुन भाव को प्राप्त हो जाते हैं। उसके परिणाम स्वरूप संसारी कर्मों में आसक्त अज्ञानी सन्तान की ही उत्पत्ति होती है। कोई कारक पुरुष या भगवत् अनुग्रह प्राप्त पुरुष तो स्वेच्छानुसार किसी भी योनि को निमित्त बनाकर प्रकट हो जाता है। उनकी बात तो छोड़ दीजिये वे तो अपवाद हैं। नहीं तो वद्ध जीवों की सन्तानें भी प्रायः वद्ध ही होती हैं और मुमुक्षु पुरुषों की सन्तानें मुमुक्षु होती हैं।

हमारे यहाँ शास्त्रों में मैथुन केवल रति सुख के ही निमित्त नहीं है। वह धर्म है, उसकी शास्त्रों में विधियाँ हैं। उसका आचरण धर्म समझकर नियमानुर विधिवत् होना चाहिये। जैसे धर्मशास्त्र का गृहस्थ धर्माश्रयी पुरुष को आज्ञा है ऋतुकाल में ही अपनी भार्या में ही अवश्य गमन करना चाहिये (ऋतौभार्यामुपेयात्) इसमें तीन शब्द हैं। ऋतुकाल में-अपनी ही भार्या में-गमन करना चाहिये।

माताओं को जो मासिकधर्म होता है। उसे ही ऋतुकाल कहते हैं। वह ऋतुकाल जिस दिन से स्राव आरम्भ हो १६ दिन का माना गया है। प्रथम के चार दिन जिनमें स्राव होता है। गर्भाधान के लिये सर्वथा निषिद्ध हैं। उनमें जो भार्या में गमन करता है वह महापातकी माना जाता है। अतः १६ दिनों में से चार दिन तो ये निकल गये। अब रहे बारह दिन इनमें ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियाँ भी निषिद्ध हैं। अतः दश रात्रियाँ ही प्रशस्त हैं। इन दश रात्रियों में भी श्राद्ध का दिवस, एकादशी, अमावस्या पूर्णिमा, अष्टमी और चतुर्दशी तथा विशिष्ट पर्व के दिन वर्जित हैं। इन सबको बचाकर धर्म भावना से केवल अपनी धर्मपत्नी ही में गमन करना चाहिये।

धर्मपत्नी का अर्थ है, धर्मपूर्वक शास्त्रीय विधि से जिससे विधिवत् विवाह हुआ हो। (पत्यः=यज्ञे सम्बन्धो यस्या सा पत्नी) पत्युर्नोयज्ञ संयोगे। जिसका सम्बन्ध यज्ञ में हुआ हो और जिसके साथ मिलकर धार्मिक कृत्य यज्ञादि किये जायँ। उसे अर्धाङ्गिनी भी कहते हैं। पुरुष के शरीर का पत्नी आधा भाग मानी जाती है। पत्नी संयोग से ही पुरुष पूर्णाङ्ग होता है। यज्ञ में विधिवत् उसका मंत्रों द्वारा पाणिग्रहण किया जाता है, इसलिये पाणिग्रहीता कहते हैं। धर्म कार्यों में वह सदा साथ रहती है इसी

लिये वह सहधर्मिणी कहाती है। पति उसका सदा भरण-पोषण करने को बाध्य होता है इसलिये वह भार्या कहाती है। पति अपने वीर्य रूप से उसके उदर में वास करके उत्पन्न होता है इसलिये उसकी जाया संज्ञा है। वह अपने माता-पिता, भाई-बन्धुओं को छोड़कर पति के साथ चली आती है। इसलिये उसका नाम दारा भी है (दारयति ज्ञाति बन्धून् = इति = दारा) घर की स्वामिनी होने से वह गृहिणी कहाती है। वह सन्तानों की जननी है इसलिये उसे जनी कहते हैं। ऐसी धर्मचारिणी धर्मपत्नी में धर्मपूर्वक सन्तानोत्पत्ति करने का शास्त्रीय विधान है। स्मृतियों में दाम्पत्य सम्बन्ध के बहुत से विधान हैं। अपनी धर्म-पत्नी भी हो, और वह सोलह वर्ष की न हो. तथा पति की अवस्था २५ वर्ष की न हो तो भी गर्भाधान करना अनुत्तम माना गया है। अल्पावस्था का बालक दुर्बल तथा अल्पजीवी होता है। संगम गर्भाधान रात्रि में ही प्रशस्त माना गया है। दिवा मैथुन घोर पाप कहा गया है।

वीर्य को आप संज्ञा है। जल ही वीर्य है। अग्नि में आहुति देने पर ही अदृष्ट बनता है। यज्ञ से ही सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति बतायी है। प्रजापति ने यज्ञ सहित ही प्रजा की सृष्टि की है। यज्ञ में इतनी वस्तुएँ प्रधान रूप से होती हैं। एक तो यज्ञ जिसमें किया जाता है वह कुंड होता है। एक करने वाला यजमान, जो आहुति देता है, जिस समिधा से अग्नि प्रज्वलित होती है, वह समिधा। समिधा को अग्नि में डालने पर धूँआ होता है, फिर निर्धूम होने पर अग्नि की ज्वाला उठती है, ज्वाला उठने पर समिधा के अंगारे-जलते हुए कोयले हो जाते हैं, अग्नि में से चिनगारियाँ निकलती हैं, फिर यजमान उसमें हवन करता है। शाकल्य की आहुति देता है। उस आहुति से अदृष्ट-पुण्यकर्म -

की उत्पत्ति होती है। प्रवाहण का पाँचवाँ प्रश्न यही था, कि पंचम आहुति में आपकी पुरुष संज्ञा कैसे हो जाती है ? इस एक ही प्रश्न में मनुष्य की उत्पत्ति का सम्पूर्ण रहस्य छिपा हुआ है। चार आहुतियों तक तो उनकी आप (जल) संज्ञा ही रहती हैं। पंचम आहुति में वह आप-जल-अथवा वीर्य-पुरुप कैसे बन जाता है। अतः पाँचों आहुतियों की अग्नि, समिधा, धूम, ज्वाला, और विस्फुलिंगों का पृथक्-पृथक् वर्णन करके हवन करने वाले यजमानों का तथा उसमें दी जाने वाली आहुतियों का वर्णन करके किस आहुति से कौन-सी वस्तु उत्पन्न होती है। उस वस्तु की पुनः आहुति देने पर कौन-सी वस्तु होती है और पंचम आहुति में आपकी पुरुष संज्ञा कैसे हो जाती है, इस अपने ही प्रश्न का राजर्षि प्रवाहण गौतम गोत्रीय महर्षि आरुणि उद्दालक के प्रति उत्तर दे रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। पंचम प्रश्न मनुष्य कैसे उत्पन्न होता है इस विषय का है। अग्निहोत्री जो प्रातःकाल और सायंकाल नित्य हवन करता है, उसकी वे आहुतियाँ एक अपूर्व फल का निर्माण करती हैं। पहिले तो इसी विषय को समझ लेना चाहिये। आहुतियों के सम्बन्ध में ६ बातें जाननी चाहिये। यहाँ से उन आहुतियों का उत्क्रमण कैसे होता है। उनकी गति कैसे है, उनकी प्रतिष्ठा कहाँ है। उनसे तृप्ति कैसे होती है, फिर कर्ता की पुनरावृत्ति कैसे होती है, तब लोकों के प्रति उत्थान कैसे होता है। ये ६ बातें पहिले समझ ली जायँ, तब इस प्रश्न के उत्तर को समझने में सुविधा होगी। अग्निहोत्री द्वारा अग्नि में आहुतियाँ दी जाने पर अन्त में वे आहुतियाँ अपूर्व का निर्माण करके ऊपर की ओर उत्क्रमण करती हुई। अर्थात् अन्तरिक्ष में ऊपर की ओर धूँआ बनकर जाती हुई अन्तरिक्ष में पहुँचती हैं। फिर वहाँ उनकी

गति यह होती है अन्तरिक्ष को आहवनीय अग्नि बनाकर वायु को समिधा बनाकर सूर्य की किरण उन्हें शुक्ल बनाती हुई वहाँ प्रतिष्ठित होती हैं। इससे अन्तरिक्ष लोक तृप्त होता है। अर्थात् अन्तरिक्ष लोक में स्थित अग्निहोत्र करने वाले यजमान को फलोन्मुख करती हैं। जब यजमान उनके सहारे द्युलोक में-स्वर्ग में उत्क्रमण करता है। स्वर्गीय सुखों को उन आहुतियों के ही द्वारा भोगता है। वे आहुतियाँ स्वर्गस्थ यजमान को भोगों द्वारा परितृप्त करती हैं। जब भोग समाप्त हो जाते हैं, पुण्य क्षय होने पर इस भूलोक में उसका पुनरावर्तन होता है। वह जल बनकर ओषधियों में प्रवेश करता है उन ओषधियों को पुरुष खाते हैं, उनका वीर्य बनता है। स्त्रियों का रज बनती है स्त्री पुरुष के सहवास से वह स्त्री के उदर में वास करके कर्मानुष्ठान में समर्थ देह की प्राप्ति कराती है। वह जल रूप वीर्य ही पुरुष बनकर पुनः शुभ कर्मों का अनुष्ठान करके स्वर्ग को प्राप्त करता है। यह लौकिक आहुतियों का क्रम हुआ।"

अब ये पाँच आहुति बताते हैं। इनमें चार आहुतियाँ तो अप् या श्रद्धा कहलाती हैं। उन आहुति के कारक ६ हैं। अग्नि, समिधा, धूम, ज्वाला, अङ्गार तथा विस्फुलिङ्ग। इनमें से चार आहुतियों की आप संज्ञा है और पाँचवीं आप होने पर भी पुरुष संज्ञक हो जाती है। इसी का वर्णन भगवती श्रुति करते हुए कहती है। ऊपर से नीचे को कैसे आते हैं, इसी का वर्णन करते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! महाराज राजर्षि प्रवाहण गौतम गोत्रीय आरुणि महर्षि से कह रहे हैं—"हे गौतम गोत्रीय मुनिवर स्वर्गलोक ही अग्नि है। उस अग्नि की समिधा सूर्य है, सूर्य की किरणें ही मानों धूँआ है। उस निर्धूम हुई अग्नि से उठने

वाली ज्वाला ही मानो दिवस है। चन्द्रमा मानों अङ्गार है और नक्षत्र ही मानो विस्फुलिङ्ग–चिनगारियाँ–हैं। इस स्वर्गलोक अग्नि मे देवतागण श्रद्धा का–आपका–हवन करते हैं। इस श्रद्धा की प्रथम आहुति से सोम राजा की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार श्रद्धापूर्वक हवन करने पर सोमराज प्रकट हुए। यह सोमराज द्वितीय आहुति हैं। अब देवताओं ने पर्जन्य–जिसके द्वारा वृष्टि वृष्टि होवी है। वृष्टि के अभिमानी देवता–को अग्नि बनाया। उसकी समिधा वायु को बनाया। अभ्र–बादल–में धूम की कल्पना की। विद्युत् को ज्वाला माना। वज्र को अङ्गार बताया, गर्जना को चिनगारियाँ–विस्फुलिङ्ग–कहा। उस अग्नि मे राजा सोम का ही हवन किया। इससे वर्षा उत्पन्न हुई यह वर्षा तीसरी आहुति है। एक आहुति तो स्वर्ग मे हुई। दूसरी अन्तरिक्ष मे हुई। अब तीसरी चौथी और पाँचवीं आहुतियाँ पृथ्वी पर होंगी क्योंकि वर्षा अन्तरिक्ष से पृथ्वी पर ही होती है।"

अतः देवताओं ने पृथ्वी को ही अग्नि बनाया। वर्ष या सम्वत्सर ही उस पृथ्वी की समिधा है। आकाश ही धूम है। रात्रि उस निर्धूम अग्नि की ज्वाला है। दिशायें ही अङ्गारे हैं। तथा अवान्तर–उप-दिशायें–ही चिनगारियाँ हैं उस पृथ्वी रूपा अग्नि मे वर्षा रूपी आहुति का हवन किया इससे अन्न की उत्पत्ति हुई। यही अन्न चौथी आहुति है। अन्न से ही पुरुष की उत्पत्ति है। अतः देवताओं ने पुरुष को अग्नि बनाया। वाणी को समिधा। प्राण ही मानो धूम्र है। लाल रंग की जिह्वा ही मानो उस अग्नि की लपलपाती ज्वाला है। चक्षु ही अङ्गारे हैं और श्रोत्रेन्द्रिय ही मानो चिनगारियाँ हैं। उस पुरुष रूप अग्नि में देवताओं ने अन्न की ही आहुति दी उससे वीर्य रूप मे मानो पाँचवीं आहुति उत्पन्न हुई। !

अब उस वीर्य का सेचन स्त्री रूपा क्षेत्र में किया जाता है। इसलिये देवताओं ने स्त्री को ही अग्नि माना उसमें समिधा स्थानीय उपस्थ की कल्पना की। उपमन्त्रण ही मानों धूम्र है। प्रजनन-स्थली ही ज्वाला है। अन्तःपरिसर्पण ही अङ्गारे हैं। रतिसुख ही मानों विस्फुलिङ्ग चिनगारियाँ है। देवताओं ने उस नारी रूपा अग्नि में वीर्य की ही आहुति दी। उससे गर्भ उत्पन्न हुआ। श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न और वीर्य ये पाँच आहुतियाँ जलरूपा ही हैं। इनमें जल की प्रधानता होने से इन पाँचों की आप संज्ञा है। पाँचवीं जो वीर्य रूपा आहुति है वह स्त्री के उदर में जाकर गर्भ रूप में परिणित होकर पुरुष वाचक बन गया। उस वीर्य ने पुरुष रूप कैसे धारण किया, इसे बताते हैं। पहिले वह वीर्य मातृ-उदर में पहुँचकर शनैः-शनैः कड़ा और स्थूल होता हुआ जरायु या गर्भ की झिल्ली से आवृत हुआ। वह माता के उदर में नौ दश या जब तक पूर्णाङ्ग न हुआ तब तक माता के उदर में सोता रहा। समय आने पर वह माता के उदर से बाहर आया, और जितनी दैव ने उसको आयु निश्चित की थी, उतने दिनों यहाँ पृथ्वी पर जीवित रहकर कर्म करता रहा। आयु शेष हो जाने पर कर्मानुसार पर-लोक को प्रस्थित हुआ। वह अग्नि से ही उत्पन्न हुआ था। अग्नि से ही नीचे आया था अतः उसे अग्नि में ही ले जाते हैं। जिन पाँच अग्नियों के क्रम से आया था उसी के अनुसार कर्मवश वह पुनः चला जाता है जहाँ से पुरुष आता है वहीं चला जाता है।

राजर्षि प्रवाहण महामुनि आरुणि से कह रहे हैं—"मुनिवर! यह मैंने आपको सुविधा के लिये सर्वप्रथम पाँचवें प्रश्न का उत्तर दिया। आप समझ गये न ?"

महामुनि उद्दालक आरुणि ने कहा—"हाँ भगवन्! समझ गया।"

तब राजा प्रवाहण ने कहा—"अब मैं प्रथम प्रश्न का उत्तर देता हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अब कैसे राजा प्रवाहण प्रथम प्रश्न का उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

दिशि अङ्गारे विस्फुलिंग उपदिशि बतलाईं।
वर्षा सुर करि हवन अन्न तातैं उपजाईं॥
वर्षा आहुति तृतिय पुरुष ही अगिनि कहावै।
वाक् समिध है धूम प्राण जिभ ज्वाल कहावै॥
चक्षु अगारे श्रोत्र हू, विस्फुलिंग तिहि अगिनि सुर।
अन्न होमि वीरज करें, आहुति चौथी अन्न वर॥

नारि अगिनि है तासु उपस्थहु समिध सहारे।
तिहिकी ज्वाला योनि प्रविस भीतर अगारे॥
विस्फुलिंग सुख कह्यो हवन वीरज करि सुरगन।
तातैं होवै गरभ वीर्य आहुति पंचम तन॥
आप वीर्य आहुति पँचम, पुरुष मास दस प्रकट अहिँ।
निज आयुप जीवै मरै, अग्नि भयो प्रविसे तहहिँ॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के पंचम अध्याय में चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम खण्ड समाप्त।

—::—

प्रवाहण के प्रथम द्वितीय और तृतीय प्रश्नों का उन्हीं के द्वारा उत्तर

[१७४]

तद्य इत्थं विदुः। ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान्षडुदङ्ङेति मासा ँ स्तान् ॥*

(छा० उ० ५ अ० १० खं १ म०)

छप्पय

प्रथम द्वितीय अरु तृतीय प्रश्न को उत्तर मुनिवर।
सुनो, वास वन करें तपस्या श्रद्धायुत नर॥
अर्चिमार्ग ते जाइँ अर्चि तैं दिन अभिमानी।
शुक्लपक्ष पुनि अयन हु संवत् रवि शशि मानी॥
शशि तैं विद्युत करें नर, प्राप्त अमानव ब्रह्मकूँ।
देवयान यह मार्ग है, सुनहु यान अव पितृकूँ॥

---

* जो इस भाँति इस विषय के जानकार हैं और जो अरण्यवास करते हुए श्रद्धा और तपस्या द्वारा उपासना करते हैं, वे अन्त में देवयान मार्ग द्वारा जाते हैं। पहिले वे अर्चि अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं। अर्चिरभिमानी देवताओं से फिर दिवस अभिमानी, फिर शुक्ल पक्षाभिमानी फिर उत्तरायणाभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं।

ऋषिकुमार श्वेतकेतु जब पाचालो की समिति में पहुँचे, तो राजर्षि प्रवाहण ने उनसे पाँच प्रश्न पूछे। उनमें से पाँचवे प्रश्न का तो पीछे उन्हीं के द्वारा उत्तर मिल चुका। अब शेष चार रहे। उनमे से पहिला प्रश्न था प्रजा कहाँ जाती है। दूसरा था फिर इस लोक में कैसे आती है। तीसरा था देवयान और पितृयान ये दोनों मार्ग एक दूसरे से विलग कहाँ होते हैं। इन तीनों प्रश्नों का परस्पर मे घनिष्ट सम्बन्ध है। सबसे पहिले देवयान और पितृयान इन दोनो मार्गों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिये। फिर समझना चाहिये कहाँ से लोग आते हैं। तो या तो आने वाले लोग पितृयान से गये हुए ही यहाँ आते हैं। किस क्रम से आते हैं, इसे तभी बताया जायगा, जब पहिले दोनों यानों या-मार्गों का जिन पर चलकर यात्री जाता है—उसका ज्ञान हो। और यहाँ से फिर जाता कैसे हैं, इसके लिये भी देवयान, पितृयान का ज्ञान आवश्यक है। अब फिर तीसरे प्रश्न का उत्तर होगा, कि ये दोनों मार्ग एक साथ जाकर विलग किस स्थान पर होते हैं। तब दूसरे प्रश्न का उत्तर दिया जा सकेगा कि लोग आते कहाँ से हैं। इसलिये पहिले प्रथम प्रश्न का उत्तर है इसी मे तृतीय प्रश्न के कुछ अश का उत्तर आ जाता है और फिर तृतीय प्रश्न का पूरा उत्तर होकर द्वितीय प्रश्न का उत्तर होता है। पाठक इस विषय को ध्यान से समझें।

सामान्यतया आश्रमी दो प्रकार के होते थे, एक तो ग्राम्य-वासी दूसरे वनवासी। ग्राम्यवासी तो गृहस्थी होते हैं, जो अपने ससारी समस्त व्यवहारो को करते हुए, अपने कुटुम्ब परिवार के साथ व्यवहार करते हुए भी अग्निहोत्रादि नित्यकर्मों को करते रहते हैं। वे धर्मपरायण वैदिक कर्मकाड मे रत गृहस्थी स्वर्ग से आगे नहीं बढ़ सकते। वे स्वर्ग जायँगे, पितृलोकों में निवास

करेंगे, फिर भूमि पर आवेंगे फिर शुभकर्म करेंगे फिर मरेंगे, फिर आवेंगे। इस प्रकार उनका आवागमन पुनः-पुनः लगा ही रहेगा।

दूसरे आश्रमी वनवासी होते हैं। उनमें आचार्य महर्षिगण (सद्गृहस्थ आचार्य) नैष्ठिक ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी और संन्यासी और वानप्रस्थ ये चार होते हैं।

अरण्यवासी आचार्य महर्षिगण यद्यपि प्रजावान् होते हैं, अग्निहोत्रादि देव, पितर और ऋषियों के निमित्त कर्म भी करते हैं, फिर भी वे ज्ञान द्वारा स्वर्गलोक से ऊँचे लोक महर्लोक तथा जन लोकादि लोकों को प्राप्त होते हैं, जिन्हें अपुनरावृत्ति लोक कहते हैं। ब्रह्मचारियों में भी दो प्रकार के ब्रह्मचारी होते हैं। एक तो विद्यार्थी ब्रह्मचारी-अथवा उपकुर्वाण ब्रह्मचारी दूसरे नैष्ठिक ब्रह्मचारी या ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी। यद्यपि समावर्तन संस्कार से पूर्व दोनों ही एक से अरण्यवासी ब्रह्मचारी ही होते हैं। दोनों ही गुरुकुल में पढ़ते समय अरण्य में वास करते हैं। किन्तु उपकुर्वाण ब्रह्मचारी-जो पढ़कर विवाह करके ग्राम में निवास करेगा, उसका अरण्यवास नैमित्तिक है। वह विद्या पढ़ने के निमित्त कारण विशेष से वन में वास करता है। उसका मन तो ग्राम में ही लगा रहता है कब विद्या समाप्त हो और कब मैं समावर्तन करके गृहस्थी बनूँ। तो ऐसा ब्रह्मचारी वन में वास करता हुआ भी ग्राम्यवासी ही कहा जायगा। क्योंकि प्रजावान् होना चाहता है, और महर्षिगण यद्यपि देखने में प्रजावान् हैं, वन में वास करने पर भी उनके सन्तानें हैं, किन्तु उनमें ज्ञान की प्रधानता है इसलिये वे प्रजावान् होकर भी त्रिलोकी को पार करके अपुनरावृत्ति लोकों को प्राप्त कर लेते हैं। वैसे सामान्य नियम तो यही है, कि संतान की इच्छा वाले श्मशान को-पुनरावृत्ति लोकों को-प्राप्त होते हैं। ज्ञानी पुरुष जो अप्रजावान् हैं। सन्तान की

इच्छा नहीं करते वे अमरत्व को प्राप्त होते हैं। इससे यही सिद्ध हुआ कि देवयान मार्ग से जाने वाले साधक यहाँ लौटकर नहीं आते और पितृयान मार्ग से जाने वाले पुनः यहाँ लौटकर आ जाते हैं। ज्ञान कर्म के बिना केवल अरण्यवास से भी कोई देवयान मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकता। जैसे दस्यु, कोल-भील-सिंह व्याघ्रादि वन में ही वास करते हैं, किन्तु ज्ञानकर्म से रहित होने से न उन्हें देवयान ही प्राप्त होता है, न पितृयान ही। ये दोनों मार्ग तो शास्त्रीय कर्म करने वाले ज्ञानवान् अरण्यवासी तथा ग्राम्यवासी आश्रमी ही प्राप्त कर सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजर्षि प्रवाहण का पहिला प्रश्न था 'इस लोक से परे प्रजा कहाँ जाती है।' इस प्रश्न का उत्तर देने के निमित्त दो प्रकार के—अरण्यवासी तथा ग्राम्यवासी—आश्रमियों का वर्णन करते हुए, पहिले अरण्यवासी—नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा सन्यासियों—के सम्बन्ध में बताते हैं। जो इस प्रकार जानने वाले हैं—इस अग्नि विद्या के ज्ञाता हैं, ऐसे वन में रहकर श्रद्धा और तपस्या द्वारा शास्त्रीय विधि से उपासना करते हैं। ऐसे त्यागी वनवासी उपासक इस शरीर के अन्त हो जाने पर सब से प्रथम अग्नि शिखा के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। क्योंकि उन्होंने संसारी भोगों की इच्छा किये बिना अव्यग्र-भाव से अग्नि की आराधना की थी। अतः वे दीप्तिमार्ग के अधिकारी होते हैं। अग्नि की शिखा के अभिमानी देवता जहाँ तक उनकी सीमा होती है, तहाँ तक उस वन में रहने वाले उपासक को ले जाते हैं। फिर दिन के अभिमानी देवताओं की सीमा आ जाती है, वहाँ आकर वे अर्चि अभिमानी देवता उसे दिवसाभिमानी देवताओं को सौंप देते हैं। दिवसाभिमानी देवता उसे अपनी सीमा के अन्त तक पहुँचा देते हैं, वहाँ शुक्ल पक्ष के

अभिमानी देवताओं को उसे सौंपकर वे लौट आते हैं। शुक्लप-क्षाभिमानी देवता वहाँ से उसे ऊपर ले जाते हैं। अपनी सीमा तक पहुँचाकर वहाँ उत्तरायणाभिमानी देवताओं को उसे सौंपकर लौट आते हैं। फिर वे जिन ६ महीनों में सूर्य उत्तर की ओर जाता है उनके अभिमानी देवता उसे अपनी सीमा तक ले जाकर संवत्सराभिमानी देवताओं को सौंप आते हैं। वहाँ से वे संवत्-सराभिमानी देवता उसे आदित्य लोक में पहुँचा देते हैं। आदित्य लोक से फिर वह चन्द्रलोक को प्राप्त होता है, चन्द्रलोक से विद्युत्लोक को प्राप्त करता है। विद्युत्लोक तक तो त्रिलोक हैं। इसके अनन्तर फिर एक अमानव पुरुष उसे ब्रह्म को प्राप्त करा देता है। इसे देवयान मार्ग, अर्चिमार्ग या दीप्ति मार्ग कहते हैं। इस मार्ग से जाने वाला साधक फिर लौटकर इस जगत् में नहीं आता।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह राजर्षि प्रवाहण के पहिले प्रश्न का और तृतीय प्रश्न का आधा-आधा उत्तर है। क्योंकि तीसरा प्रश्न था 'देवयान मार्ग और पितृयान मार्ग दोनो मार्ग एक दूसरे से विलग किस स्थान पर होते हैं। इस प्रश्न के लिये देवयान और पितृयान—दीप्ति मार्ग और धूममार्ग—अर्चिमार्ग और तमोमार्ग—इन दोनों ही मार्गों का परिचय आवश्यक है। अतः देवयान या अर्चि-दीप्ति-मार्ग का परिचय तो करा चुके अब पितृयान या धूम्र मार्ग का परिचय कराते हैं।"

जो अप्रजावान्-अरण्यवासी अग्नि सेवी साधक न होकर प्रजावान्—गृहस्थ—ग्राम्यवासी—साधक हैं। जो काम्यकर्मों में शास्त्रीय विधि से लगे रहते हैं। वे पितृयान मार्ग से जाते हैं। अर्थात् पहिला प्रश्न था इस लोक से पुरुष कहाँ जाते हैं। तो बता दिया—एक तो देवयान मार्ग से जाकर अन्त में ब्रह्म को प्राप्त

करते हैं, दूसरे पितृयान से जाकर स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं। पितृयान मार्ग से कैसे जाते हैं और देवयान और पितृयान मार्ग कहाँ से पृथक्-पृथक् होते हैं। इसे ही बताना है।

जो ग्राम्य में वास करने वाले प्रजावान् गृहस्थ हैं वे शास्त्रीय विधि से काम्यकर्मों में लगे रहते हैं। शास्त्रानुसार काम्यकर्म तीन प्रकार के होते हैं। (१)—इष्ट, (२)—पूर्त और (३)—दत्त इष्टकर्मों के ६ भेद हैं। ६ प्रकार के कर्म इष्टकर्म कहलाते हैं। (१) अग्निहोत्र करना (२) शास्त्रीय विधि से तपस्या करना। (३) सत्य भाषण करना, (४) वेदाध्ययन करना, (५) घर पर आये अतिथियों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना और (६) नित्य वलिवैश्व देवयज्ञ करना। इन ६ का नाम इष्टकर्म है। अब पूर्तकर्म बताते हैं—बावड़ी, पुष्करिणी, धर्मशाला, देव मंदिर, सभा भवन, पाठशाला, औषधालय आदि बनवा देना, फल फूल वाले बाग-बगीचा लगवा देना। अन्नक्षेत्र लगाना अर्थात् परोपकार सम्बन्धी कार्यों में धन व्यय करना तथा पतितों का उद्धार करने के कर्मों को करना इन सबकी पूर्त संज्ञा है। यदि ये पूर्तकर्म सकामभाव से किये जायँ तो इनसे स्वर्ग मिलता है निष्कामभाव से किये जायँ, तो इनसे मोक्ष तक की भी प्राप्ति होती है।

अब तीसरा कर्म दत्त है—दत्त कहते हैं दान को। यज्ञों में जो ब्राह्मणों को धन दिया जाता है, उसकी दान संज्ञा नहीं है। उसे तो दक्षिणा कहते हैं। वह तो एक प्रकार से सम्मान और उदारता सहित पारिश्रमिक है। दान तो उसे कहते हैं, जो अपने न्याय से उपार्जित धन को अथवा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं को बिना किसी उपकार की भावना से सत्पात्र को—क्लेश में पड़े वेदज्ञ ब्राह्मण को—श्रद्धापूर्वक दिया जाय। वही दान है। यह दान जिस कामना से दिया जाता है उस कामना की पूर्ति होती है और स्वर्ग

को प्राप्त कराता है, यही दान निष्कामभाव से किया जाय तो मोक्ष प्राप्त करा सकता है।

जो सद्गृहस्थ इष्ट, पूर्त और इन कर्मों को काम्यभाव से करते हुए उपासना करते हैं ऐसे उपासक सर्वप्रथम धूमाभिमानी देवताओं को प्राप्त करते हैं। धूमाभिमानी देवता अपनी सीमा तक पहुँचाकर उन्हें रात्रि-अभिमानी देवताओं को सौंप आते हैं। वे निशाभिमानी देवता उन्हें पक्षाभिमानी देवताओं तक पहुँचा देते हैं, फिर पक्षाभिमानी देवता उन्हें दक्षिणायनाभिमानी देवताओं को सौंप आते हैं। जिन ६ महीनों में सूर्य दक्षिण मार्ग से जाते हैं। उन्हें दक्षिणायन कहते हैं। अब यहां से इन्हें सम्वत्सराभिमानी देवताओं को प्राप्त करना चाहिये, सो ये लोग संवत्सर को प्राप्त नहीं होते। जैसे देवयान वाले उत्तरायणाभिमानी देवों को प्राप्त हुए। नियमानुसार उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों ही संवत्सर के अवयव हैं. किन्तु इस पितृयान का मार्ग यहाँ से बदल जाता है, पितृयान वाले दक्षिणायन से सीधे पितृलोक को चले जाते हैं, फिर पितृलोक से आकाश को। आकाश से चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं। यह चन्द्रमा राजा सोम है अर्थात् देवताओं का अन्न है। देवता इसी सोम का पान करते हैं। इसी का भक्षण करके देवता अपना निर्वाह करते हैं। वे पितृयान वाले साधक स्वर्ग में देवताओं के उपभोग्य होकर वहाँ के पदार्थों का उपभोग करते हुए अपने पुण्य कर्मों का फल भोगते रहते हैं। देवयान वाला साधक भी चन्द्रलोक में आता है और पितृयान वाला साधक भी चन्द्रलोक में आता है। किन्तु देवयान मार्ग वाला चन्द्रलोक से-स्वर्ग से विद्युतलोक होता हुआ अमानव पुरुष द्वारा ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है और पितृयान वाला स्वर्ग

का स्वर्ग मे ही रह जाता है। स्वर्ग से दोनों का मार्ग विलग हो जाता है। यह तीसरे प्रश्न का उत्तर हुआ।

अब बीच में दूसरा प्रश्न रह ही गया कि जीव इस लोक में कैसे आता है ?"

शौनकजी ने पूछा—"आकाश से वह साधक चन्द्रमा को प्राप्त होता है और चन्द्रमा राजा सोम है, वह देवताओं का अन्न है, देवता लोग उस अन्न का भक्षण करते हैं। इसका अर्थ क्या हुआ ?"

"क्या देवता उस पितृयान वाले उपासक को खा जाते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! 'अन्न' शब्द का अर्थ खाने वाली वस्तु ही नहीं है। यहाँ अन्न शब्द से सेवा की उपकरण वस्तु से है। जैसे अप्सरायें देवताओं का अन्न हैं तो देवता अप्सराओं को खाते थोड़े ही हैं। उनके सुख की साधिकायें हैं।

शौनकजी ने पूछा—"जब वे स्वयं दूसरो के सुख के साधक हैं, तो उन्हें क्या सुख मिलता होगा ?"

सूतजी ने कहा—"क्यों भगवन् अप्सरायें देवताओं का अन्न हैं, सुख का साधन हैं, तो क्या अप्सराओं को स्वर्गीय सुख प्राप्त नहीं होता। वे सजती-बजती हैं, अनुलेपन लगाती हैं, दिव्य मालायें धारण करती हैं, शृङ्गार करती हैं, नाचती गाती हैं। इन कार्यों से उन्हें भी सुख होता है और देवताओं के भी सुखोपभोग का कारण बनती हैं। इसी प्रकार चन्द्रलोक में वे साधक धूमादि मार्ग से जाकर देवताओं के सुख के उपकरण बनकर स्वयं भी वहाँ के सुखों का उपभोग करते हैं।"

शौनक जी ने कहा—"वे कब तक स्वर्गीय सुखों का उपभोग करते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"तब तक करते हैं जब तक उनके पुण्य

कर्मों का फल समाप्त नहीं हो जाता। पुण्य कर्मों का फल समाप्त होते ही वे इस लोक में आ जाते हैं।"

शौनक जी ने पूछा—"वे फिर इस लोक में कैसे आते हैं?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! यही तो राजर्षि प्रवाहण का द्वितीय प्रश्न था, इसका उत्तर देते हुए प्रवाहण आरुणि ऋषि से कह रहे हैं—"मुनिवर! धूममार्ग से चन्द्रलोक-स्वर्ग-में गये उपासक पुण्य कर्मों का क्षय होने तक वहाँ के सुखों का उपभोग करते हैं फिर जिस मार्ग से गये थे उसी मार्ग से पृथ्वी पर लौट आते हैं।"

मरने पर उसके शरीर को अग्नि में जला देते हैं। अग्निहोत्र के पुण्य धूम के साथ जलीय तत्व उस यजमान को अच्छादित करके ऊपर की ओर जिस क्रम को पीछे धता आये है, उस क्रम से ऊपर की ओर जाकर चंद्र मंडल में पहुँच जाते हैं। उस सूक्ष्मजलीय तत्व रूप शरीर से यहाँ पृथ्वी पर जो उनसे इष्ट, पूर्त तथा दत्त शुभ कर्म किये थे। उनके फलों को भोगने के अनन्तर-पुण्य शेष होने पर—वे जलीय शरीर द्वारा पहिले आकाश में आते हैं, आकाश से फिर वायु को प्राप्त होते हैं। वायु से फिर धूम को प्राप्त होते हैं। और धूम से अभ्र-बादल-जल भरण मात्र रूप-हो जाता है। उस बादल या अभ्र से वह जल रूप से मेघ को प्राप्त होता है। फिर मेघ अन्तरिक्ष से-पृथ्वी पर-बरसता हैं। तब वह जीव पृथ्वी पर धान, जौ, अन्य ओषधि, वनस्पति, तिल तथा उड़द आदि रूप से उत्पन्न होता है। अर्थात् अन्न बनकर पैदा होता है। उस अन्न को जीव खाते हैं। उसे जो-जो जीव खाते हैं, उन सब का अन्न से वीर्य बनता है। उस खाये अन्न से जिस-जिस जीव ने उसे खाया है उस जीव का उसके गुण कर्मानुसार वैसा ही वीर्य बन जाता है। उस वीर्य का वह स्त्री में सेचन करता है,

उससे उसकी आकृति के ही अनुरूप जीव उत्पन्न हो जाता है। उन उत्पन्न होने वाले जीवों में जो अच्छे आचरण वाले होते हैं, वे तो कर्मानुसार उत्तम योनि में जन्म लेते हैं, कोई ब्राह्मण योनि मे जन्म लेता है । कोई क्षत्रिय योनि में उत्पन्न होता है और कोई वैश्य योनि को प्राप्त होता है। जो अशुभ आचरण करने वाले होते हैं, वे तत्काल अशुभ योनि को ही प्राप्त कर लेते हैं। कोई कुत्ता योनि को प्राप्त हो जाता है, कोई शूकर बन जाता है, मनुष्य योनि भी प्राप्त हो, तो श्वपच चांडालादि योनि को प्राप्त करता है।

शौनकजी ने पूछा—"जो लोग वेद सम्बन्धी शुभ कर्मों को करते नहीं हैं, केवल विषय भोगों मे ही रत रहते हैं वे धूममार्ग से जाते या दीप्ति मार्ग से ?"

सूतजी ने कहा "वे इन दोनो मार्गों मे से किसी मार्ग में नहीं जाते हैं। वे नरकों मे पाप कर्मों का फल भोगकर अन्न को प्राप्त करके नीच योनि के पुरुषों का अन्न होते हैं और नीच योनि में जन्म लेकर दुःख भोगते रहते हैं।"

शौनक जी ने कहा—"जब पितृयान मार्ग के धर्मात्मा साधक भी लौटकर अन्न ही होकर उत्पन्न होते हैं और पाप कर्म वाले भी अन्न बनकर पाप योनि मे उत्पन्न होते हैं, तो दोनों को जन्म लेने में समान दुःख ही हुआ।"

सूतजी ने कहा--"जन्म लेने का दुःख तो समान ही है, किन्तु उसमें कुछ अन्तर होता है। जैसे किसी व्रण का चिकित्सक शल्य कर्म करते हैं। तो एक तो अचेतन करने की औषधि सुँघाकर शल्य स्थल को जड़वत बनाकर शल्य कर्म किया जाय, तो जिसका शल्य कर्म किया गया है, उसे कष्ट का अनुभव नहीं होता। दूसरा बिना अचेतन किये हुए शल्य कर्म किया जाय, तो उसे

महान् कष्ट होता है, रोता चिल्लाता है। ऐसा ही अन्तर पुण्यात्मा और पापियों के जन्म लेने में है। धूममार्ग से लौटनेवाले पुण्यात्मा पुरुष तो लौटते समय अचेतन बने रहते हैं, उन्हें लौटने से जन्म लेने तक अचेतन रहने से कष्टानुभूति नहीं होती और पापी पुरुषों को नरक से लौटने से लेकर जन्मपर्यन्त पग-पग पर क्लेशों की अनुभूति होती है। अतः जीव पितृलोक से या नरक लोक से क्रमशः लौटकर इस पृथ्वी पर आता है, यही दूसरे प्रश्न का उत्तर है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार राजर्षि प्रवाहण द्वारा पूछे गये पाँच प्रश्नों में से उन्हीं के द्वारा पाँचवें, प्रथम, द्वितीय तथा तीसरे चार प्रश्नों का उत्तर दिया जा चुका, अब जो चौथा यह प्रश्न है कि यह पितृलोक भरता क्यों नहीं? इसी का उत्तर शेष रह गया, सो इसका उत्तर जो प्रवाहण राजा ने दिया है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप इस अत्यन्त उपयोगी प्रश्न के उत्तर को सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करेंगे और इस पर मनन करेंगे।"

छप्पय

गृही ग्राम बसि करें दत्त अरु इष्ट पूर्त सब।
प्राप्त धूम कूँ होहिं निशा पनि कृष्ण पच्छ तब॥
दच्छिण अयनहिं जाइँ नहीं सम्वत्सर जावें।
पितृलोक नभ फेरि चन्द्र सोमहिं सुर पावें॥
पुण्य कर्म छय होत ही, फेरि ताहि क्रम आत है।
नभ में नभ तैं वायु नें, धूम अभ्र बनि जात है॥

अभ्र फेरि बनि मेघ जीव बरसा सँग बरसें।
जो तिल ओषधि अन्न बने भरि प्रानी हरषें॥
दुख प्रद है निष्क्रमण अन्न कूँ जो जो खावें।
ता आकृति के जीव करम शुभ अशुभ बनावें॥
शुभ तें द्विजपन अशुभ तें, शूकर श्वान चँडाल बनि।
आइ करम फल भोगि कें, पुनि पुनि जनमें मरहिं पुनि॥

—:—

प्रवाहण के चतुर्थ प्रश्न का उन्हीं के द्वारा उत्तर

[१७५]

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न स ह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥*

(छा० उ० ५ अ० १० खं० १० मं०)

छप्पय

उभय मार्ग नहिं जाइँ मरें जीवें फिरि आवें।
तातें नहिं परलोक भरे यों वेद बतावें॥
घृणा जगत तें करे पाँच अग पतित सु–नामी।
कनक चोर, मद पिये और गुरुनारी गामी॥
द्विजघाती इनि संग–कर, पाँच महापापी कहे।
प्रायश्चित इनिको कठिन, पाप लगे इनि संग रहे॥

---

* ब्रह्म हत्यारा, सुरापी, सुवर्ण चोर गुरु स्त्री गामी और इनका संसर्गी ये महापातकी है, इन पाँचों से संसर्ग रखने वाला भी पतित हो जाता है। किन्तु जो इन पाँच प्रश्न रूप पंचाग्नियों को जानता है, वह इन महापातकियों के संसर्ग में रहता हुआ भी लिप्त नहीं होता। वह शुद्ध पावन और पुण्यलोक भागी होता है। जो इसे जानता है जो इस प्रकार जानता है।

हम देखते हैं, कितना भी बड़ा गड्ढा क्यों न हो, शनैः-शनैः भरते-भरते एक दिन वह भर जाता है, किन्तु यह पेट का गड्ढा ऐसा है कि इसमें जीवन भर आटा, दाल, चावल, साग, भाजी, कन्द, मूल, फल, जल, दूध, दही, घृत, चीनी, डालते रहो यह भरता नहीं। क्यों नहीं भरता ? इसलिये कि बनाने वाले ने ऐसा युक्तियुक्त प्रबन्ध कर दिया है, कि आय के समान ही निकासी की भी व्यवस्था प्रथम से ही कर दी है। प्रातःकाल इस गड्ढे को कसकर भर दो, सायंकाल तक पुनः रिक्त का रिक्त। यह कभी पूर्ण भर जाने का नाम ही नहीं लेता।

इसी प्रकार समुद्र में सभी ओर से बड़े वेग से बड़े-बड़े भारी-भारी नदी नद उमड़ते हुए, उफनते हुए आकर मिलते हैं। ऐसा लगता है, कि इन नदी नदों के निरन्तर आते हुए प्रबल वेग से समुद्र उफन कर जगत् की प्रलय कर डालेगा। क्योंकि ये नदियाँ जब अपनी प्रबल बाढ़ से उफनती हुई आती हैं तो सहस्रों लाखों ग्राम तथा नगरों को नष्ट करती हुई आती हैं। ऐसी अनन्त नदियों का जल निरन्तर ही समुद्र में गिरता रहता है, किन्तु समुद्र इतने पर भी अपनी मर्यादा का परित्याग नहीं करता। वह धीर गम्भीर वैसे का वैसा ही बना रहता है। उफनती हुई नदियाँ समुद्र में मिलकर शान्त गम्भीर बन जाती हैं। वे अपने नाम रूप को खोकर समुद्र में आत्मसात् हो जाती हैं। निरन्तर इतनी नदियों का जल भरते रहने पर भी समुद्र भरता क्यों नहीं ?

इसलिये कि समुद्र के बनाने वाले चतुर चितेरे ने पहिले से ही नियमित स्थान पर बड़वानल को लाकर बिठा दिया है। उस स्थान से ऊपर जितना भी जल आ जाता है। बड़वानल उस सब को पीकर पचाती जाती है। इसीलिये समुद्र कभी भरता नहीं।

अपने स्थान से अधिक उफनता नहीं, अपनी मर्यादा से बाहर जाता नहीं।

इन सभी लोकों के रचने वाले ने चन्द्र, सूर्य, वायु, समुद्र, स्वर्ग तथा नरकादि लोकों की ऐसी मर्यादा बाँध रखी है, कि सब अपनी मर्यादा के भीतर ही क्रियाशील रहते हैं। इस मर्यादा पुरुषोत्तम की तनिक सी भ्रु कुटि वक्र होते ही सभी थर-थर काँपने लगते हैं कैसा है वह चतुर चितेरा, कैसा है वह परम प्रवीण प्रबन्धक, कैसा है वह नियमनियामक निरीक्षक, कैसा है, वह नयनाभिराम नेता उसी के संकेत पर नरपाल, भूपाल, दिग्पाल, लोकपाल तथा ब्रह्माण्डपाल सबके सब नाच रहे हैं। उस भूमा पुरुष के पाद पद्मों में हमारा पुनः-पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजर्षि प्रवाहण ने अपने ही द्वारा पूछे हुए पाँच प्रश्नों में से प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा पंचम इन चारों का उत्तर दे दिया, अब यह एक चौथा प्रश्न रह गया, कि यह पितृलोक (नित्य इतने पुरुषों के मरने पर भी) भरता क्यों नहीं? अब इसी अपने प्रश्न का वे अपने आप ही उत्तर देते हैं।"

राजर्षि प्रवाहण महर्षि आरुणि से कह रहे हैं—"मुनिवर! अब मैं चतुर्थ प्रश्न का आपको उत्तर देता हूँ। देवयान वाले उपासक तो क्रमशः ब्रह्मलोक में पहुँच जाते हैं और वे प्रायः यहाँ लौटकर नहीं आते। किन्तु जो पितृयान मार्ग के उपासक हैं वे क्रमशः स्वर्ग लोक जाते हैं, वहाँ अपने कृत पुण्य कर्मों का फल भोग अन्त में पुनः इस लोक में आ जाते हैं। साधकों की ये ही दो गतियाँ हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जो उपासक न तो

सम्बन्धी उपासना करते हैं और न देवयान सम्बन्धी उपासना करते हैं, ऐसे साधकों की कौन सी गति होती है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! राजर्षि प्रवाहण इसी का तो चतुर्थ प्रश्न में उत्तर दे रहे हैं। उनका कहना है जो न पितृयान के अधिकारी हैं और न देवयान के। ऐसे जीव इन दोनों मार्गों में से किसी भी एक मार्ग द्वारा नहीं जाते। वे प्राणी कर्मानुसार बारम्बार क्षुद्र, अति क्षुद्र योनियों में जन्मते और मरते रहते हैं, यही उनका तृतीय स्थान है। जब वे किसी स्थान पर स्थायी नहीं रहते, गये और तुरन्त आ गये। मर गये पुनः उत्पन्न हो गये। पितृलोक में पहुँचते ही तुरन्त उन्हें दूसरी योनियों में डाल दिया गया। इस प्रकार जब वहाँ से प्राणी आते भी रहते हैं और जाते भी रहते हैं। इसी कारण से पितृलोक भरता नहीं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार राजर्षि प्रवाहण ने अपने ही प्रश्नों का स्वयं ही उत्तर देते हुए कहा—"मुनिवर ! मैंने यह पञ्चाग्नि विद्या आपसे कही। (१) द्युलोक, (२) पर्जन्य, (३) पृथ्वी, (४) पुरुष और (५) स्त्री ये पाँच अग्नि हैं। इन पाँच अग्नियों के यथार्थ रहस्य को जानने वाला पुरुष घोर से घोर पाप कर्मों से छूट जाता है। संसार मे पाँच महापातक हैं, उनके करने वाले महापापी कहे जाते हैं। शास्त्रो में इन महापातकों से छुटकारा पाने के प्रायश्चित नहीं हैं। हैं भी तो अत्यन्त कठिन। किन्तु जो इस पंचाग्नि विद्या के रहस्य को जान लेता है। वह इन महापातकों से भी सहज में ही छूट जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! पाँच महापातक कौन-कौन से हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! भगवती श्रुति ने स्वयं ही इन महापातकों को बताया है (१) पहिला महापापकी तो है हिरय-

स्तेयी -अर्थात् सुवर्ण चुराने वाला (२) दूसरा महापातकी है सुरापी-अर्थात् द्विज होकर सुरापान करने वाला। (३) तीसरा महापातकी है गुरु स्त्री गामी अर्थात् वर्ण में, सम्बन्ध में अपने से जो श्रेष्ठ हैं, उनकी पत्नी के साथ सहवास करने वाला। (४) चौथा महापातकी ब्रह्म हत्यारा अर्थात् समस्त वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मण को मार देने वाला और (५) इन चारों के साथ खाने, पीने, सोने तथा सम्बन्ध आदि अन्य संसर्ग करने वाला इनके ही सदृश पंचम महापातकी है।"

शौनकजी ने पूछा—"सुवर्ण चोर से क्या अभिप्राय है ?"

सूतजी ने कहा—"सुवर्ण को चुराने वाला–जैसे सुवर्णकार आदि-महापातकी तो होते ही हैं। सुवर्ण के ही समान चाँदी, ताँबा आदि धातुओं को चुराने वाला, अन्न, फल तथा असहाय पुरुषों की जीवकोपयोगी अन्य उपकरणों को भी चुराने वाला– जिन वस्तुओं की चोरी हो जाने पर परिवार के लोग भूखों मरने लगें–उन सबके चुराने का पाप भी सुवर्ण की चोरी के ही सदृश माना जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सुरापान से अभिप्राय क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! सुरा पीना सबसे बड़ा पाप है। सुरा, मदिरा मद्य तथा माध्वी आदि मदिरा के सैकड़ों नाम हैं। गौड़ी, पैष्ठी; तथा माध्वी साधारणतया तीन प्रकार की मदिरा होती है। गुड़ से बनायी जाने वाली गौड़ी, जौ आदि अन्नों की पीठी से बनाई जाने वाली पैष्ठी तथा महुआ आदि के पुष्पों से फलों से बनायी जाने वाली माध्वी सुरा कहलाती है। वैसे महुआ, कटहल, अंगूर, दाख, खजूर, ताल, ईख, शहद, मधूक, नारियल गुड़ सभी वस्तुओं से सुरा बनायी जाती है। द्विजाति यदि भूल से भी मदिरा का पान कर ले तो उसे गरम-गरम दूध,

पीकर प्राणांत करने का ही प्रायश्चित बताया है। दही गुड़ शहद मिलाकर ताम्र पात्र में पीना ये सब भी सुरापान के सदृश ही हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्म हत्या से अभिप्राय क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्राह्मण का वध कर देना ही ब्रह्मवध है। इन्द्र ने वृत्रासुर ब्राह्मण का वध किया था, इससे उसके पीछे ब्रह्महत्या-चांडाली का रूप रखकर-लग गयी थी। शास्त्रों में ब्रह्महत्या का स्त्रीरूप में वर्णन किया है। जैसे मासिक धर्म से युक्त स्त्री अस्पर्शा होती है वैसा ही रूप ब्रह्महत्या का बताया है। वह लाल कपड़े पहिने रहती है, वृद्धा के वेष में बाल बखेरे, सात तालों की बराबर लम्बी बड़े-बड़े हल की फार की भाँति भयानक उसके दाँत होते हैं, बड़ी भयं करा और, भयदायिनी होती है, ब्रह्म हत्यारे के पीछे-पीछे लगी रहती है, हाथ में खड्ग लिये हुए दया से रहित होकर ब्रह्महत्या करने वालों को भयभीत करती रहती है।

अपने गुरुजनों का अपमान करने वाला, पञ्चदेवों में भेद बुद्धि रखने वाला, और भी ऐसे अनेक पातक हैं जो ब्रह्महत्या के सादृश माने जाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"गुरु स्त्री गामी से तात्पर्य क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"मन्त्र देने वाला, दीक्षा देने वाला, ज्ञान प्रदान करने वाला। ये सब तो गुरु हैं ही। इनके अतिरिक्त पिता, श्वसुर, बड़े भाई, मामा, मौसा, फूफा, चाचा, ताऊ, कुल पुरोहित राजा अपने से वर्ण में अवस्था में, ज्ञान में, सम्बन्ध में, जो भी बड़े हों सबकी गुरु संज्ञा है। उनकी जो पत्नियाँ हैं उन सब को माता के समान माने, इनके साथ जो धर्म विरुद्ध आचरण करता है। वह भी महापातकी माना जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"संसर्गी को महापातकी क्यों माना है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! गुण और दोष तो संसर्ग से ही आते हैं। जो पापियों के साथ एक पंक्ति में बैठकर, उनके साथ एक पात्र में खाते हैं, एक शैया पर सोते हैं। उनके वस्त्र, आभूषण उपानह आदि को धारण करते हैं, तो उनके संसर्ग से संसर्गी भी महापापी ही बन जाता है। इसलिये इन महापातकियों से सदा सर्वदा दूर ही रहना चाहिये।"

इतना सब होने पर भी ज्ञान रूप अग्नि समस्त पापों को उसी प्रकार शीघ्र ही भस्म कर देती है। जैसे सूखे ईंधन को अग्नि भस्म कर देती है। इसलिये जिसने सम्यक् प्रकार से पीछे कही हुई पंचाग्नियों का विधिवत् ज्ञान प्राप्त कर लिया है। वैसा ज्ञानी पुरुष यदि इन पाँचों महापातकियों का साथ भी करता है, इनसे संसर्ग भी रखता है, तो उसे कुछ भी पाप नहीं लगता। उसे पातक स्पर्श भी नहीं करते। वह किसी भी प्रकार पापों से लिप्त नहीं हो सकता, वह सदा सर्वदा शुद्ध और पावन ही बना रहेगा। वह पवित्र पुरुष पुण्यश्लोक ही कहलाता रहेगा। जो इस विद्या को इस प्रकार जानता है। भली प्रकार से जानता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो ! यह मैंने राजर्षि प्रवाहण द्वारा पाँच प्रश्नों के रूप में पंचाग्नि विद्या कही अब आगे प्राचीन शाल आदि राजा जैसे अश्वपति राजर्षि के पास गये और उनसे वैश्वानर आत्मा के सम्बन्ध में प्रश्न किया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पंचाग्निहु सम पाँच प्रश्न इनि सब जो जानत।
पापिनि हू करि संग लिप्त निज कूँ नहिँ मानत॥
जानि पाँच हू प्रश्न शुद्ध पावन नर होवै।
पुण्यलोक अधिकार पाइ कल्मष सब धोवै॥
नृपति प्रवाहण प्रश्न निज, उत्तर मुनिवर तैं कहे।
पढ़ें सुनें जे प्रेम तैं, शेष कृत्य तिनि नहिँ रहे॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के पञ्चम अध्याय में
दशम खण्ड समाप्त।

वैश्वानर विद्या के निमित्त ऋषियों का अश्वपति राजा के समीप गमन

[१७६]

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीम
मात्मानं वैश्वानरमध्येति त ँ हन्ताभ्या-
गच्छामेति त ँ हाभ्याजग्मुः॥॥ॐ
(छा० उ० ५ प्र० ११ खं ४ मं०)

छप्पय

सत्ययज्ञ, प्राचीन शाल, जन, इन्द्र द्युम्न मुनि ।
बुडिल, पाँच ऋषि मिले परम श्रोत्रिय ऋषि गुनगुनि॥
कौन आतमा ब्रह्म, कहा यों कहें परस्पर ।
उद्दालक ऋषि पास गये पूछन वैश्वानर ॥
उद्दालक अलपज्ञ' निज, जानि सबनि तैं कहहिँ तब ।
केकय-सुत नृप अश्वपति, ज्ञाता तिहि ढिँग चलहिँ सब ॥

ॐ आये हुए महर्षियों से महामुनि आरुणि ने कहा—हे भगवत् स्वरूप महानुभावो ! केकय देश के राजा के कुमार अश्वपति इस काल में वैश्वानर आत्मा को भली भाँति जानते हैं । मेरी सम्मति है, हम सब मिलकर उन्हीं के समीप चलें । ऐसा निश्चय करके वे सब-के-सब अश्व-पति के निकट गये ।

हमारे शास्त्रों में वेद, पुराण, उपनिषद्, लोक, परलोक सबके सब नित्य हैं, सनातन हैं। एक परमात्म को छोड़कर सबका कालानुसार आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है। भगवान् का भी अवतार रूप में आविर्भाव तिरोभाव सा होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यह वर्तमान सृष्टि है, कालान्तर में यह तिरोहित हो जाती है। फिर ब्रह्मा का प्राकट्य होता है। वे धाता पूर्व सर्गों की ही भाँति पुनः इस जगत् की रचना कर देते हैं। अतः जैसे पसारी रात्रि मे दुकान को बन्द कर देता है, प्रातः होते ही पुनः पूर्ववत् सजा देता है। जिस समय उसने दुकान बन्द की उस समय दुकान की समस्त सामग्रियों को कहीं फेंक नहीं आता। वे विद्यमान रहती हैं। किन्तु ग्राहको की दृष्टि से ओझल हो जाती हैं। लुप्त हो जाती हैं। वस्तुओं का अदर्शन होना ही लोप कहलाता है। अतः जगत् में कोई वस्तु नयी नहीं होती। हिरफिर कर वे ही वस्तुएँ रूपान्तर होकर आती जाती रहती हैं। इसी न्याय से कर्म, उपासना तथा ज्ञान ये तीनों मार्ग भी सनातन हैं। कभी किसी की बहुलता हो जाती है कभी किसी की। यज्ञादि कर्मकाण्ड भी नित्य हैं और समय-समय पर भगवान् ही अपने श्री अंगों द्वारा यज्ञादि कर्मों का प्रवर्तन करते हैं। जब उनकी इच्छा इन्हे अदर्शन–या लुप्त–करने की होती है, तो स्वयं ही इन्हे लुप्त कर देते हैं।

सकाम यज्ञ-यागादिको का प्राकट्य कैसे और क्यों हुआ। इस सम्बन्ध की पुराणों मे एक बड़ी ही रोचक कथा है। आदि सत्ययुग मे सभी लोग परम धर्मात्मा होते थे। उस समय वेदों का विस्तार नहीं हुआ था। एक मात्र प्रणव–ओंकार–ही वेद था। समस्त वेदशास्त्र उसी प्रणव के अन्तर्भूत थे। देवता भी तैंतीस कोटि नहीं थे, एक नारायण ही देव थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य

और शूद्र ये वर्ण भी चार नहीं थे। एकमात्र हंस नाम का वर्ण था। गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय ये तीन अग्नि भी नहीं थीं। एक ही अग्नि थी। पृथ्वी लोक और स्वर्गलोक में भी कोई भेदभाव नहीं था। लोग जब चाहते तभी स्वर्ग चले जाते, जितने दिन चाहते स्वर्ग में रह आते, जब इच्छा होती तब लौटकर आते। स्वर्ग प्राप्ति के लिये किसी भी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष जिसकी जो इच्छा होती वही अनायास इन्हें प्राप्त कर लेता था। सबको सब वस्तुएँ सहज ही प्राप्त थीं। किसी की किसी प्रकार की उत्कट कामना नहीं होती थी।

यह जगत् परिवर्तनशील है, सदा एक-सी स्थिति में संसार की कोई वस्तु नहीं रहती। उसमें क्षण-क्षण में पल-पल में कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही रहता है। सत्ययुग के पश्चात् त्रेता आया। अब लोगों के मन में कुछ कामनायें उठने लगी। चन्द्रमा के पुत्र बुध हुए बुध के द्वारा इला के गर्भ से पुरूरवा का जन्म हुआ। पुरूरवा एक तो चन्द्रमा के पुत्र थे, दूसरे उनकी सन्तान संकरी थी, अतः वे कामदेव से भी अधिक सुन्दर थे। इच्छानुसार जब चाहते तब स्वर्ग में चले जाते। स्वर्ग में देवी उर्वशी ने इनको देखा इनके रूप, गुण, शील स्वभाव उदारता तथा धन सम्पत्ति से आकृष्ट होकर वह स्वर्ग की देवाङ्गना होकर भी मर्त्यलोक के राजा के ऊपर आसक्त हो गयी। इधर राजा भी उसके अनवद्य सौंदर्य से आकृष्ट होकर उसकी कामना करने लगे। इस प्रकार कामना ने दोनों के बीच भेदभाव डाल दिया। तभी से काम्य कर्मों के करने का प्रचलन आरम्भ हुआ।

कामना से पुरुष पतित हो जाता है, फिर उस कामना की पूर्ति के लिये प्रयत्न करता है, यही सकाम कर्मों का रहस्य है।

राजा पुरूरवा ने उर्वशी से विवाह तो कर लिया, किन्तु वह विवाह धर्म प्रेरणा से न होकर रूपासक्ति और कामना के वशीभूत होकर असमानता पूर्ण था। उसका जो परिणाम होना था वही हुआ। उर्वशी राजा का परित्याग करके चली गयी। राजा अत्यन्त दुखी हुए, उसे अत्यन्त व्यग्रता के साथ रोते-रोते खोजते फिरे। अन्त में उर्वशी मिली, उसने कहा—तुम गन्धर्वों की स्तुति-विनय-आराधना करो, वे चाहेंगे, तो मुझे तुमको दे सकते हैं।"

जिसके हृदय मे कामना–आसक्ति–घर कर गयी है, वह उसकी पूर्ति के लिये सब कुछ कर सकता है। राजा ने गन्धर्वों की स्तुति की। गन्धर्वों ने स्तुति से प्रसन्न होकर राजा को अग्नि स्थापन करने की थाली (अग्नि स्थाली) दी। राजा तो उर्वशी के विरह में विक्षिप्त से हो गये थे। उस अग्निस्थाली को ही उर्वशी मानकर घूमते रहे। अन्त मे अग्निस्थाली को वन में छोड़ घर चले गये।

तभी राजा के हृदय में तीनों वेद प्रकट हुए। तब वे वन में गये जहाँ वह पात्र रखा था वहाँ शमी वृक्ष के गर्भ में एक पीपल का वृक्ष उग आया था। राजा ने उन दोनों के काष्ठ से दो अरणियाँ (मन्थनकाष्ठ) बनाये और नीचे की अरणी में उर्वशी की भावना करके ऊपर की मे अपनी भावना करके उसे मथा उनके मन्थन से जो अग्नि उत्पन्न हुई, उसका नाम उन्होंने 'जातवेदा' रखा। उस अग्नि को उन्होंने आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि इन तीन विभागों में बाँट दिया। उस अग्नि में पुरूरवा ने यज्ञपति भगवान् का हवन किया। तभी से त्रयीविद्या, तीन अग्नियों का प्रादुर्भाव हो गया। वासनाओं के कारण अब स्वतः स्वर्ग में जाकर वहाँ से लौटने की शक्ति विलुप्त हो गयी। ये तीनों अग्नियाँ राजा के पुत्र कहलाये। उर्वशी लोक प्राप्ति की

कामना से राजा ने हवन किया, जिससे उन्हें उर्वशी लोक की प्राप्ति हुई।

तभी से लोग स्वर्ग की कामना से यज्ञ यागादि करने लगे। ये वेद त्रिगुणात्मक हैं। वैदिक कर्मकांड यज्ञयागादिकों का मुख्य उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति ही है। कर्मकांडी स्वर्ग से आगे नहीं बढ़ते। वे स्वर्ग को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, वे यज्ञादि द्वारा भोग और ऐश्वर्य को ही प्राप्त करना चाहते हैं। मीमांसकों की मोक्ष स्वर्ग ही है। वे स्वर्ग से आगे किसी मोक्ष को नहीं मानते।

पूर्वकाल में जैसे द्विजातियों के लिये शिखा सूत्र अनिवार्य था वैसे ही अग्निहोत्र भी अनिवार्य था। कोई भी द्विजाति ऐसा नहीं होता था, जो अग्निहोत्र न करता हो। सभी अग्नि के उपासक थे और स्वर्ग प्राप्ति ही सत् कर्मों का मुख्य उद्देश्य माना जाता था। ऐसे कर्मकांड प्रधान काल में भी अरण्यों में ज्ञान की चर्चा होने लगी। कर्मकांड से ऊपर उठकर वनों में ब्राह्मण आत्मा के सम्बन्ध में ऊहापोह करने लगे। इस ज्ञान चर्चा में क्षत्रिय भी ब्राह्मणों से पीछे नहीं रहे। कई विद्याओं को तो ब्राह्मणों ने क्षत्रियों से ही सीखा। उन्हीं में एक वैश्वानर विद्या है।

वैश्वानर वैसे उस शक्ति का नाम है, जो प्रकाश प्रदान करती है, जगत् में जो सबको प्रकाशित करती है, सबको धारण करती है, समस्त प्राणियों का परिपोषण करती है और खाये हुए को जो पचाती है। विराट् पुरुष का नाम वैश्वानर है। (विश्वरचासौ नरश्चेति) वैश्वानर अग्नि का भी नाम है, यही अग्नि अपने उपासकों लोकान्तर-स्वर्गादि लोकों को प्राप्त कराती है। अग्नि उपासक ही अग्नि की ज्योति दीप्ति द्वारा स्वर्ग प्राप्त करते हैं। (विश्वान्=नरान्-इतः लोकात् लोकान्तरं नयति=इति= वैश्वानरः) कहने का तात्पर्य यही है, कि जो हमें सुपथ की ओर

प्रेरित करे। जो स्वर्ग से भी ऊपर हमें उठावे। वह वैश्वानर क्या है ? जो कामनाओं में फँसकर निरन्तर स्वर्ग के ही लिये प्रयत्न करते रहते हैं, वे तो एक प्रकार से अन्धे हैं। कामना के धूम्र से उनकी आँखे बन्द हो गयी हैं, वे स्वर्ग से ऊपर मोक्ष को देख ही नहीं सकते। वे स्वर्ग को ही मोक्ष माने बैठे हैं। जैसे बहुत से अन्धों से हाथी का स्वरूप पूछा, तो जिसने हाथी की सूँड़ पर हाथ फिराया उसने हाथी को केले के खंभे की भाँति बताया। जिसने पैर पर हाथ फिराया उसने भवन के खम्भे के सदृश बताया, जिसने कान पर हाथ फेरा उसने सूप के सदृश बताया, जिसने दाँतो पर हाथ फेरा उसने लकड़ी के सदृश बताया। यद्यपि ये सब रूप हैं तो हाथी के ही, किन्तु वे पूर्ण हाथी के नहीं, हाथी के अंगो के ही है। इसी प्रकार वैश्वानर को केवल प्रकाशक ही कहना, केवल, धारण की ही शक्ति पोषण की शक्ति अथवा पचाने वाली अग्नि कहना उसका पूर्णरूप नहीं। तब जिज्ञासा होती है वैश्वानर है क्या ? इसी बात को समझाने के निमित्त भगवती श्रुति ने एक आख्यायिका के द्वारा इस विषय को स्पष्ट किया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! प्राचीन काल में सज्जन पुरुष परस्पर में बैठकर धर्म सम्बन्धी ही चर्चा किया करते थे। एक बार महर्षि उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल, महर्षि पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ महर्षि भल्लवि के पुत्र इन्द्रद्युम्न, महर्षि शर्कराक्ष के पुत्र जन और महर्षि अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल ये पाँच ऋषि कुमार एक समय किसी एक स्थान पर एकत्रित हुए। ये सबके सब अग्निहोत्र करने वाले, नियम संयम के साथ रहने वाले महाशाल तथा महाश्रोत्रिय थे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! महाशाल किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! जो बड़े परिवार वाले महागृहस्थ

हों। जिनका कुटुम्ब बड़ा हो धनधान्य से युक्त विस्तृत शालायें हों। जो सब प्रकार से सम्पन्न विशाल परिवार वाले गृहस्थ होते हैं, वे ही महाशाल कहलाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"महाश्रोत्रिय किन्हें कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"जो शुद्ध ब्राह्मण पिता से शुद्ध ब्राह्मणी माता में सन्तान होती है, वह जन्मना ब्राह्मण कहलाते हैं। तब उसके मुंडन, कर्णवेध, वेदारम्भ, यज्ञोपवीतादि संस्कार होकर गायत्री मन्त्र की दीक्षा दी जाती है, तो उसकी 'द्विज' संज्ञा हो जाती है। ब्राह्मण संस्कारों के द्वारा ही द्विजत्व को प्राप्त करता है। वही द्विज जब विद्याध्यन करता है, तो उसकी विप्रसंज्ञा हो जाती है। (विशेषेण प्रति=पूरयति-षट्कर्माणि+इति=विप्रः) १-अध्यन, २-अध्यापन, ३-यजन, ४-याजन, ५-दान और ६-प्रतिग्रह ये ही षटकर्म हैं। अर्थात् जो जन्म से तो ब्राह्मण हो, उसके विधिवत् सब संस्कार हुए हों और जिसने शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष इन षडङ्गों सहित केवल अपनी ही वेद की एक शाखा को भी विधिवत् पढ़ लिया हो उसे धर्मात्मा द्विज ब्राह्मण की श्रोत्रिय संज्ञा होती है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! जो जन्मना ब्राह्मण भी नहीं, जिनके विधिवत् संस्कार भी नहीं हुए और जिन्होंने वेद को देखा तक नहीं ऐसे लोग भी अपने नाम के सम्मुख श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ लगाते हैं, यह क्या बात है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यह तो अधर्म बहुल कलिकाल का प्रभाव है। छोड़िये ऐसे पापियों की चर्चा। ऐसे पापियों की चर्चा करने से भी पाप लगता है। ऐसे लोग अपने पापों का भोग स्वतः ही करेंगे। यहाँ तो शास्त्रों ने जो श्रोत्रिय का लक्षण बताया है, उसे ही मैं कहता हूँ। हाँ तो ये पाँचों ऋषिकुमार धर्म

परायण सद्गृहस्थ तथा महाश्रोत्रिय चारों वेदों के ज्ञाता थे। जब ये परस्पर मिले, तो सज्जन पुरुष जहाँ मिलते हैं वहाँ ज्ञान ही की चर्चा होती है। इधर-उधर की लौकिक बातें वे नहीं करते। अतः उनमें परमार्थ चर्चा छिड़ गयी। वे परस्पर ब्रह्म और आत्मा के सम्बन्ध में विचार करने लगे। प्रश्न यह उठा कि हम जो आत्मा-आत्मा कहते हैं, वह हमारा आत्मा है कौन ? और जो हम ब्रह्म-ब्रह्म कहते हैं वह ब्रह्म क्या वस्तु है।"

इस सम्बन्ध में कोई कुछ कहने लगा, कोई कुछ। निर्णय कुछ भी न हो सका। तब उन्होंने विचार किया जो अरुण के पुत्र आरुणिमहर्षि हैं जिसका दूसरा नाम उद्दालक भी है, ये सभी वेदों के ज्ञाता हैं। इन्होंने पांचाल नरेश राजर्षि प्रवाहण से पंचाग्नि विद्या भी प्राप्त कर ली है। वे इस वैश्वानर नामक आत्म विद्या को भी जानते होंगे। अतः हम सब उन्हीं के पास चलें।"

सबने इस प्रस्ताव का अनुमोदन समर्थन किया और सभी मिलकर महर्षि उद्दालक आरुणि के समीप आये। मुनिवर आरुणि वेदों के ज्ञाता थे, किन्तु वैश्वानर विद्या में वे अपने को निष्णात नहीं मानते थे। जब ये परम श्रोत्रिय महागृहस्थ ऋषिकुमार उनके यहाँ पहुँचे, तो इन्होंने इन सबका विधिवत् स्वागत सत्कार किया इनकी पूजा करने के अनन्तर वे जिस काम से आये हैं उनके आन्तरिक भाव को ये जान गये। वे समझ गये ये महागृह श्रोत्रिय ऋषिकुमार मुझसे वैश्वानर ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रश्न करेंगे। मैं इस विषय को भली-भाँति जानता नहीं। जो विषय को न जानता हुआ भी दूसरों को मिथ्या उपदेश करता है, वह पाप का भागी होता है। अतः मुझे अपनी स्पष्ट स्थिति सम्मुख बिना संकोच के प्रकट कर देनी चाहिये। यही सब सोचकर महर्षि आरुणि उद्दालक ने उनसे कहा—"प्रतीत होता है, आप सब

इतने भारी विद्वान् वेदज्ञ श्रोत्रिय विप्रवर मेरे पास वैश्वानर आत्मा के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के निमित्त पधारे हैं।"

सबने कहा—"हाँ, भगवन ! हम इसी हेतु से आपकी सेवा में समुपस्थित हुए हैं।"

यह सुनकर आरुणि महर्षि ने कहा—"महानुभावो ! मैं वैश्वानर आत्मा के सम्बन्ध में कुछ-कुछ जानता तो हूँ, किन्तु मैं उसे पूरी तरह बता न सकूँगा। मुझसे भी अधिक इस विद्या के ज्ञाता एक दूसरे महानुभाव हैं। वे तुम्हें इसका भली-भाँति उपदेश कर सकते हैं। आप चाहें तो मैं उन उपदेष्टा का नाम बता दूँ ?"

सब ने कहा—"हाँ, अवश्य बताइये।"

इस पर महर्षि आरुणि उद्दालक ने कहा—"भगवत् स्वरूप पूजनीय महानुभाव ! उन उपदेष्टा का नाम राजर्षि अश्वपति है। वे केकय देश के महाराज के राजकुमार हैं। वे इस वैश्वानर संज्ञक आत्मा के ज्ञाता हैं, वे इस विद्या को भली प्रकार जानते हैं। चलिये, मैं भी आप सबके साथ उनकी सेवा में चलता हूँ। मैं भी आप सबकी कृपा से इस विषय को सम्यक् प्रकार से समझ लूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो ! ऐसा निश्चय करके पाँच वे ऋषिकुमार और छटे आरुणि उद्दालक महर्षि, छै: के छै:ऊ महाराज अश्वपति की राजधानी की ओर चल दिये और कुछ ही काल में अश्वपति की राजसभा में पहुँच गये।"

एक साथ इतने श्रोत्रिय विद्वान् ऋषियों को अपने यहाँ आया हुआ देखकर राजा अश्वपति परम प्रमुदित हुए। बड़े हर्ष और उल्लास के साथ राजा ने सभी ऋषियों का पृथक्-पृथक् सत्कार किया, उनकी पूजा की। तब राजा ने कहा—"भगवत् स्वरूप

महर्षियों ! आप बहुत दूर से आये होंगे, श्रमित हो गये होंगे, आज विश्राम करें। कल बातें होंगी।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो मुनियो ! राजर्षि अश्वपति की यह बात सुनकर सभी ऋषिकुमार नित्यकर्मों से निवृत्त होकर प्रसाद पाकर सो गये। अब दूसरे दिन जिस प्रकार इन छैऊ महर्षियों से राजर्षि अश्वपति की जो बातें होंगी, उन सबका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप इस प्रसंग को दत्तचित्त होकर प्रेमपूर्वक श्रवण करेंगे।"

छप्पय

निश्चय सबने कर्यो चलें पुर नृपति अश्वपति।
आवत देखे विप्र भूप मन मुदित भयो अति॥
पृथक पृथक सत्कार कर्यो निज भाग्य सराये।
प्रातकाल पुनि गये राज्य निज वृत्त बताये॥
मुनिगण ! मेरे राज्य में, चोर, अदाता, मद्यपी।
परनारी गामी घृनित, मूरख नर नहिँ कदापी॥

अश्वपति और आगत मुनिगण

[१७७]

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्‌ तं हैव वदेदात्मान मेवेमं
वैश्वानर ं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ॥*

(छां० उ० ५ प्र० ११ ख० ६ मं०)

छप्पय

करनो चाहैं यज्ञ आपु सब विप्र पधारे।
ऋत्विक्-सम धन देउँ, बसें इत यज्ञ हमारे॥
सुनिकें ऋषिगन कहें—नहीं धन सम्पति चाएँ।
आत्मा वैश्वानरहिं आपु हम सबहिं बताएँ॥
प्रातकाल कल्ल हौं कहो, नृप यों कहि महलनि गये।
द्वितिय दिवस समिधा लिये, ऋषि नृपढिंग पहुँचत भये॥

भारतवर्ष में वर्णाश्रम धर्म का क्षत्रिय राजाओं के काल में ऐसा प्रभाव था, कि चारों वर्णों के लिये सभी कार्यों की पृथक्-पृथक् व्यवस्था थी। ब्राह्मण बालक का ८ वर्ष की आयु में उप-

---

* राजा के धन देने की बात सुनकर ऋषिगण उससे बोले—"राजन्! कोई व्यक्ति कहीं पर किसी के पास जिस प्रयोजन से जाता है, तो जाने वाले को चाहिये कि उससे उसी प्रयोजन को कहे। हम वैश्वानर आत्मा को जानना चाहते हैं, इस समय आप उसके ज्ञाता हैं, अतः आप उसी का वर्णन हमारे सम्मुख करें।"

नयन संस्कार हो, क्षत्रिय का तथा वैश्य का किस आयु में। ब्राह्मण बालक भिक्षा माँगने में कौन से शब्द कहे, क्षत्रिय तथा वैश्य कोन से ? यहाँ तक नहीं, उनके दण्डों में भी भेद होता था, यहाँ तक कि उनकी दँतोन में भी भेद होता है। ब्राह्मण बारह अगुल की दँतौन करे, क्षत्रिय दश अंगुल की और वैश्य आठ अगुल की। सबका वेप भूसा, पहिनाव उढ़ाव पृथक् होता था। उनके वेप से, चाल-ढाल तथा व्यवहार से ही उनके वर्ण का पता चलता था। ब्राह्मण का बालक ८ वर्ष का हो, क्षत्रिय ८० वर्ष का। फिर भी वह वर्ण में श्रेष्ठ होने के कारण ब्राह्मण का अभिवादन करेगा। यहाँ तक कि कुशल क्षेम भी भिन्न-भिन्न वर्णों के व्यक्तियों से भिन्न-भिन्न प्रकार से पूछी जाती थी। ब्राह्मण से कुशल क्षेम पूछी जाती थी। कहिये आप कुशलपूर्वक हैं न ? कुशल का अर्थ है कुशों को लाने वाला। यज्ञादि मंगल कार्यों में कुशा लायी जाती हैं, उनका प्रयोग होता है। अर्थात् आपके यज्ञयागादि मंगल कार्य भली-भाँति सम्पन्न हो रहे हैं न ? आपका कल्याण तो है ? कुशल का दूसरा अर्थ है आपके पाप कट रहे हैं न ? (कुं=पापम् तस्मात् शलति= गच्छति=अर्थात्-पृथक्त प्राप्नोति=इतिकुशलं) क्षत्रियों से अनामय पूछे। अर्थात् आप रोगादि उपद्रवों से रहित तो हैं ? आम—अर्थात् रोगादि उपद्रवों का अभाव तो है ? वैश्यों से क्षेम पूछे। क्षेम का अर्थ भी कुशल मंगल ही है और शूद्र से शरीर सम्बन्धी आरोग्य पूछे। अर्थात् पूछे—तुम्हारा शरीर नीरोग है न ?

पहिले जब राजागण ऋषियों के आश्रमों में जाते थे, तो उनके अग्निहोत्र की, आश्रम के छात्रों की, आश्रम के वृक्षों की, मृगादि पशु-पक्षियों की कुशल पूछते थे। ब्राह्मण लोग राजाओं के यहाँ जाते थे, तो उनकी प्रजा की, धर्म की, सेना, कोश, मन्त्री

तथा अन्य राज्य सम्बन्धी कार्यों की अनामयता के सम्बन्ध में पूछते थे।

साधारण नियम तो यही था, कि उपदेष्टा आचार्य वेदवेत्ता ब्राह्मण ही होते थे। उपदेश देने के वे ही अधिकारी माने जाते थे, किन्तु कहीं-कहीं इसका अपवाद भी देखने में आता था। ब्राह्मण भी नम्रता के साथ समिधा हाथ में लेकर क्षत्रियों का शिष्यत्व स्वीकार करके उनसे शिक्षा लेने जाते थे। इतने पर भी क्षत्रिय उनका आदर करते थे, उन्हें शिष्य न मानकर बन्धु भाव से उपदेश देते थे। कैसी थी वह वर्णाश्रम धर्म की निष्ठा कलिकाल में तो वर्णाश्रम धर्म प्रायः नष्ट से ही हो गये हैं। अब उनकी गाथायें ही कहीं-कहीं अवशिष्ट हैं। घोर कलि आने पर वे गाथायें भी देखने सुनने को उपलब्ध न होंगी?

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब उपमन्यु सुत प्राचीनशाल, पुलुष पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवितनय इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष सुत जन, अश्वतराश्व पुत्र बुडिल और अरुण पुत्र आरुणि उद्दालक ये ६ ऋषिकुमार केकयिकुमार महाराज अश्वपति के यहाँ पहुँचे, तो उस दिन तो विशेष बातें नहीं हुईं। दूसरे दिन जब ये श्रोत्रिय ऋषि पहुँचे तो सबने राजा से अनामय सम्बन्धी प्रश्न किये। उन्होंने राजा से पूछा—"राजन्! आपके राज्य में सब कुशल तो है? चोर डाकू तथा दस्युओं का उपद्रव तो नहीं? लोग द्विजों को श्रद्धानुसार दान तो देते हैं न? कोई द्विजाति के लोग मद्यपान तो नहीं करते? जो मद्यपी हैं, उन्हें राज्य की ओर से दण्ड तो दिया जाता है न?

राजा ने कहा—"ब्राह्मणो! आपके आशीर्वाद से मेरे राज्य में सर्वत्र मंगल है मेरे राज्यभर में एक भी चोर नहीं है, फिर चोरों के उपद्रव का प्रश्न ही नहीं उठता। मेरे राज्य में कोई भी

ऐसा नहीं जो अपनी शक्ति के अनुसार दान न देता हो, मेरे राज्य में अदाता पुरुष खोजने पर भी नहीं मिलेगा। मेरे राज्य भर में मद्य की कोई दुकान ही नहीं। मेरे यहाँ मद्य पीने वाला एक भी व्यक्ति नहीं मिलेगा।"

ऋषियों ने पुनः पूछा—"राजन्! द्विजातिगण आपके राज्य में अग्निहोत्र करते हैं न? लोगों की शिक्षा का राज्य की ओर से समुचित प्रबन्ध है न?

राजा ने कहा—"मुनियो! मेरे राज्य में द्विजों में एक भी आपको ऐसा पुरुष न मिलेगा जो अनाहिताग्नि हो—जो अग्निहोत्र न करता हो। मेरे राज्य में शिक्षा का सर्वत्र समुचित प्रबन्ध है, मेरे यहाँ आपको ढूँढ़ने पर भी कोई अविद्वान् न मिलेगा।"

ऋषियों ने पुनः पूछा—'राजन्! आपके यहाँ सदाचार का समुचित रूप से पालन तो किया जाता है न? जो व्यभिचारी पुरुष हैं, उन्हें कठिन दण्ड तो दिया जाता है न?"

राजा ने कहा—"हे पूज्य महानुभावो! व्यभिचारी को दण्ड देने का मेरे यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि मेरे पूरे राज्य में एक भी पुरुष परस्त्री गामी नहीं। जब पुरुष ही पर स्त्रियों से उपरत हैं, तो फिर कुलटा स्त्री होने का तो प्रश्न ही कैसे उठ सकता है। आप सब महर्षियों ने पधारकर मेरा आतिथ्य ग्रहण करके मुझे कृतार्थ किया। आप मेरे राज्य में कुछ काल विराजें मैं एक यज्ञ करने वाला हूँ। आप अनायास ही उपयुक्त समय पर आ गये। उस यज्ञ में मैं आपका सत्कार करूँगा। सामान्य अभ्यागत की भाँति ही मैं आपको सामान्य द्रव्य देकर विदाई न कर दूँगा, किन्तु यज्ञ के ऋत्विजों का जितना-जितना द्रव्य दक्षिणा में दूँगा, उतना ही उतना आप सब विद्वानों को भी धन

प्रदान करूँगा। कृपा करके तब तक आप सब मेरी अतिथि शाला में ठहरें। यज्ञ के समय की प्रतीक्षा करें।"

राजा की बात सुनकर ऋषियों ने अपने मन में सोचा—"ब्राह्मण समझकर राजा ने अपने मन में यही अनुमान लगाया होगा। कि ये सब द्रव्य के हेतु मेरे समीप आये हैं। अधर्मी राजा का अधर्मोपार्जित द्रव्य नहीं लेना चाहिये। इसीलिये राजा ने अपने राज्य की धार्मिकता का अपनी प्रजा की सदाचारशीलता का बखान किया है। किन्तु हम राजा के समीप धन की इच्छा से तो आये नहीं। जिस अभिप्राय से आये हैं, उसे कह दें।" यही सोचकर उन ऋषियों ने कहा—"राजन्! किसी के पास कोई कुछ न कुछ प्रयोजन लेकर ही जाता है। जो जिस प्रयोजन से जिसके पास जाय, उस प्रयोजन को उससे कहे और उस प्रयोजन को पूर्ण करने में वह समर्थ हो, तो आगन्तुक की इच्छा को दाता पूर्ण करे। हम आपके समीप धन की इच्छा से नहीं आये हैं।"

राजा ने पूछा—"तो आप मेरे समीप किस इच्छा से आये हैं?"

ऋषियों ने कहा—"राजन्! हमने ऐसा सुना है, आप इस समय वैश्वानर आत्म विद्या के पारंगत हैं। उस विद्या को आप भली-भाँति जानते हैं, हम उसी विद्या को आपसे सीखने की इच्छा से आये हैं, उसी का उपदेश आप कृपा करके हमें कीजिये।

राजा ने मन में सोचा—"ये सब वेदज्ञ ब्राह्मण है, मेरे पास ज्ञान सीखने की इच्छा से आये हैं, किन्तु इनका बड़प्पन का अभिमान नहीं गया। ये मुझसे साधारण पुरुष की भाँति ही ज्ञान सीखना चाहते हैं। ज्ञान प्राप्त करने का ऐसा नियम तो नहीं है। इन्हें मेरा शिष्यत्व स्वीकार करना चाहिये।" यही सब सोच

कर राजा ने ऊपर से कहा—"ब्राह्मणो ! आप सब अनूचान हैं। वेद वेदाङ्गों के ज्ञाता हैं, आपके पिता प्रपितामह सभी विद्वान हैं, आप श्रोत्रिय कुल में उत्पन्न हुए हैं। स्वयं श्रोत्रिय है आपको भला में क्या उपदेश कर सकता हूँ ?"

ऋषियों ने कहा—"राजन् ! आपका कहना यथार्थ है। अवश्य हो हमने वेद तथा वेदाङ्गों का अध्ययन किया है, फिर भी हम वश्वानर आत्मा के विषय में अनभिज्ञ हैं। इस काल में इस विद्या के ज्ञाता आजकल आप ही हैं। इसीलिये हम आपके समीप आये हैं।"

राजा ने कहा—"हाँ, आप लोगों ने जो सुना है वह मिथ्या नहीं। मैं वैश्वानर आत्म विद्या का ज्ञाता हूँ। आप उसे ऐसे ही सीखना चाहते हैं ? अच्छी बात है, मैं कल प्रातःकाल आपको उत्तर दूँगा। आज भी आप लोग विश्राम करें।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! राजा के संकेत को ऋषि कुमार समझ गये। हमे ज्ञान प्राप्ति के निमित्त राजा के समीप उसी भाव से जाना चाहिये, जिस भाव से हाथ में समिधा लेकर नम्रता के साथ शिष्य गुरु के समीप जाता है। अतः वे दूसरे दिन प्रात-काल एक एक यज्ञ करने योग्य समिधाओं का गट्ठर हाथ में लिये हुए समित्पाणि होकर नम्रता के साथ-शिष्य भाव से राजा के समीप पहुँचे। राजा ने समझ लिया अब इनका बड़प्पन का अभिमान दूर हो गया, अब ये शिष्य भाव से मेरे समीप आये हैं। किन्तु ये जन्मना ब्राह्मण हैं, इनको मैं नियमानुसार शिष्य न बनाकर उपदेश तो करूँगा ही किन्तु मैत्री भाव से। इसीलिये उनका विधिवत् उपनयन संस्कार न कराकर मैत्री भाव से राजा ने उन्हें उपदेश किया।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अब जैसे राजा ने मुनियों से

पृथक्-पृथक् प्रश्न करके उन्हें उपदेश दिया। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

नहिँ कीयो उपनयन भाव मैत्री ही धरि उर।
प्रथम भूप उपमन्यु-पुत्र तैं पूछत मुनिवर॥
कौन उपासन करो? करूँ दिव बोले ऋषिवर।
नृप बोले—तिहि नाम सुतेजा है वैश्वानर॥
तातैं तव कुल सुत प्रसुत, आसुत दीसत मह-जठर।
सुत सुख, खावैं अन्न बहु, मख तेज युत कुल सुघर॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के पञ्चम अध्याय में
एकादश खण्ड समाप्त।

राजर्षि अश्वपति और महर्षि प्राचीन-शाल सम्वाद

[१७८]

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥※

(छां० उ० ५ प्र० १२ खं० १ मं०)

छप्पय

वैश्वानर दिवलोक 'सुतेजा' नाम कह्यो इत ।
जो उपासना करै दीप्त जठराग्नि तासु नित ॥
अन्न खाइ सो पचै वंश निज प्रिय नित देखै ।
ब्रह्मतेज बढ़ि जाइ सकल कुल सुख सब पेखै ॥
किन्तु न वैश्वानर सकल, केवल दिव इक अंग मुनि ।
वैश्वानर मस्तक कह्यो, दिव्यलोक तिहि तत्व सुनि ॥

※ राजा अश्वपति ने पूछा—"हे उपमन्यु तनय प्राचीनशाल ! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं ?" प्राचीनशालजी ने कहा—"भगवन् ! राजन् ! मैं तो द्युलोक की उपासना करता हूँ।" राजा ने कहा—"मैं समझ गया, आप जिसकी उपासना करते हैं, वह तो 'सुतेजा' नाम से प्रसिद्ध वैश्वानर आत्मा है, इसी कारण तुम्हारे वंश में सुत, प्रसुत, और आसुत दृष्टिगोचर होते हैं।

प्राचीनकाल में गुरु शिष्य सम्बन्ध एक पवित्र सम्बन्ध माना जाता था। गुरु शिष्य का सम्बन्ध पिता पुत्र के सम्बन्ध से भी श्रेष्ठ सम्बन्ध माना था। पिता तो केवल वीर्यदान करके शरीर के जन्म का ही कारण मात्र है, किन्तु आचार्य-गुरु-तो अज्ञान अन्धकार को नाश करके ज्ञानालोक प्रदान करता है। वह तो संसार-सागर से सदा के लिये पार जाने का उपाय बताता है।

प्राचीन प्रथा ऐसी थी कि, ब्राह्मण का बालक जहाँ ५ वर्ष का हुआ, उसे गुरुकुल में आचार्य के घर भेज दिया जाता था। क्षत्रिय को ८ और वैश्य के पुत्र को १२ वर्ष की अवस्था तक गुरुकुल प्रविष्ट हो जाना ही चाहिये। जो ब्राह्मण बालक अधिक से अधिक १६ वर्ष, क्षत्रिय २२ वर्ष वैश्य २४ वर्ष की अवस्था तक गुरुकुल नहीं जाते थे, तो वे पतित व्रात्य माने जाते थे। उन्हें प्रायश्चित करना पड़ता था।

बटु-ब्रह्मचारी-द्विज बालक जब आचार्य के समीप अध्ययन करने जाता था, तो उसके दो संस्कार आचार्य साथ ही कराते थे। वेदारम्भ संस्कार तथा उपनयन संस्कार। उपनयन का अर्थ होता है अध्ययन के निमित्त आचार्य के समीप जिस संस्कार द्वारा प्राप्त हों, उसे उपनयन कहते थे। (अभ्यागमे आचार्यस्य—समीपं, नीयते येन कर्मणा = उपनयनम्)। बटुओं द्विज बालकों को यज्ञसूत्र-यज्ञोपवीत-धारण और सावित्री-गायत्री मंत्र-का उपदेश तथा समिधाधान ये कर्म मुख्य होते थे। आचार्य इन तीनों कर्मों को कराने के अनन्तर बटु को अपना शिष्य स्वीकार करते थे। इस संस्कार को आनय, उपनाय, उपनय, उपनयन तथा बटूकरण कहते थे।

जिन विद्यार्थियों को आरम्भ से ही पढ़ाना होता था, उन्हें तो आचार्य अपनी पद्धति से ही पढ़ाया करते थे। किन्तु जो

अन्यत्र पढ़कर किसी विशेष विद्या को सीखने आते थे, उनसे आचार्य पहिले यही पूछते थे, अब तक तुमने क्या-क्या पढ़ा है। जैसे नारदजी सनत्कुमारजी के पास ब्रह्मविद्या सीखने गये, तो सबसे पहिले सनत्कुमारजी ने उनसे यही पूछा—"अब तक तुमने क्या पढ़ा है ?"

उसके उत्तर में नारदजी ने यही कहा—"मैंने ऋक्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, वेदों का वेद व्याकरण, शिक्षा, कल्प, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष पुराण, इतिहास, स्मृति आदि-आदि का अध्ययन किया है।"

तब सनत्कुमार जी ने उन्हें उपदेश दिया। उपदेश देने की यह प्राचीन प्रथा है। बात यह है जो अज्ञ है, अभी तक जिसने कुछ जाना ही नहीं उसे तो आचार्य अपने ढंग से शिक्षा देंगे, किन्तु जो पढ़ चुका है, जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे आचार्य वही बतावेंगे, जो उसे ज्ञात नहीं है। जिस विषय को वह पढ़ चुका है, उसे ही फिर से पढ़ाना यह तो पिसे हुए आटे को फिर से पीसने के समान है।

जो छोटे बच्चे हैं उनका तो संस्कार कराके मन्त्रदीक्षा देकर शिष्य बनाकर पढ़ाया जाता है। जो बड़ी अवस्था वाले हैं, जिन्होंने बड़े-बड़े आचार्यों के समीप रहकर बहुत सी विद्यायें प्राप्त कर ली हैं, वे यदि किसी विशेष विद्या की जिज्ञासा से किसी आचार्य के समीप जाते हैं, तो आचार्य उनका छोटे बच्चों की भाँति उपनयन कराके शिष्य बनाकर शिष्य भाव से नहीं सिखाते। उन्हें तो भ्रातृभाव से अपना बन्धु मानकर शिक्षा देते हैं। राजर्षि अश्वपति ने अपने समीप आये हुए प्राचीनशाल, सत्यज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल और आरुणि इन ऋषि कुमारों को उपदेश मैत्रीभाव से ही किया। यद्यपि ये सब तो राजा के समीप

शिष्य भाव से समित्पाणि होकर ही शिक्षा ग्रहण करने आये थे, किन्तु राजा ने छोटे बटुओं के सदृश इनका वटुकरण नहीं किया। अपने मित्रों की भाँति पहिले उनकी उपासना के सम्बन्ध में पूछा और उसमें जो न्यूनता थी, उसकी पूर्ति कर दी।

बात यह है, कि जिसमें जिस विषय का संस्कार होगा, उसी को उस विषय को सिखाकर बढ़ाया जा सकता है, जो सर्वथा संस्कारहीन है, उसे उस विषय की शिक्षा नहीं दी जा सकती। श्रीकृष्ण की उँगली में चोट लग गयी। द्रौपदी जी ने तुरन्त अपनी साड़ी फाड़कर भगवान् को बाँधने को चीर प्रदान की। उसी छोटी-सी चीर को भगवान् ने दुस्सासन के चीर खेंचने पर उसे अक्षय बना दिया। इसलिये आचार्य रूपहरि छोटे को बड़ा कर सकते हैं, किन्तु जहाँ कुछ संस्कार ही न हो ऊसर खेती में कोई बीज कैसे उगा सकेगा। समर्थ तो कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सभी कुछ करने में समर्थ हैं। उनकी बात छोड़ दीजिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब ये छैऊ ऋषिकुमार समित्पाणि होकर राजा अश्वपति के समीप नम्रतापूर्वक शिक्षा ग्रहण करने गये तब राजा ने सभी से क्रमशः यह बात पूछी, कि मैं वैश्वानर उपासना के सम्बन्ध में तो आप सबको पीछे बताऊँगा, पहिले आप लोग मुझे अपनी उपासना के सम्बन्ध में बतावें, कि आप किसे वैश्वानर मानकर उपासना करते हैं? अतः सर्वप्रथम उन्होंने उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल से ही पूछा—"अच्छा, उपमन्यु तनय! पहिले आप ही बताइये आप किस आत्मा की उपासना करते हैं?"

यह सुनकर ऋषिकुमार प्राचीनशाल ने बड़ी ही नम्रता से तथा शिष्टता के साथ उत्तर दिया—"भगवन्! राजन्! मैं तो द्युलोक की उपासना करता हूँ।"

यह सुनकर अश्वपति ने कहा—"मुनिवर ! द्युलोक वैश्वानर आत्मा तो है ही, किन्तु यह पूर्ण वैश्वानर नहीं। इसका नाम 'सुतेजा' (सुन्दर तेज युक्त स्वर्ग लोक) नाम से प्रसिद्ध वैश्वानर है।"

प्राचीनशाल ने पूछा—"तो क्या यह 'सुतेजा' वैश्वानर आत नहीं है ?"

राजा ने कहा—"मुनिवर ! मैंने कह तो दिया यह वैश्वान आत्मा का एक अंग है। यह वैश्वानर आत्मा का मस्तक मा है।"

प्राचीनशाल ने पूछा—"तो क्या इसकी उपासना निरर्थक है ?"

राजा ने कहा—"निरर्थक क्यों है, सार्थक ही है। देखिये, इस उपासना के प्रभाव से ही आप इतने पवित्र और वृहत् कुल वाले हो गये हैं। आप के कुल में ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ करने वाले हैं। उन यज्ञों में सुत्-सोम रूप लता द्रव्य निकाला जाता है। अहीन कर्म में प्रसुत (विशेष रूप से निकाला द्रव्य) प्रयुक्त होता है और सत्रों में आसुत (पूर्वरूप से निकाला सोमरस अधिक मात्रा में देखा जाता है। कहने का भाव यह है कि तुम्हारे कुल के लोग सदा कर्म कांडों में ही लगे रहते हैं। यह सुतेजा वैश्वानर की उपासना का ही तो फल है।" यही नहीं आप जो अन्नादि भोग्य पदार्थों का यथेष्ट उपभोग करते हैं। तुम्हारी जठराग्नि तीव्र है, तुम जो खाते हो, वह तुरन्त पच जाता है। तुम्हारे इतने पुत्र पौत्र दृष्टि हो रहे हैं। स्वजन बन्धु बान्धव रूप प्रिय पुरुषों का दर्शन कर रहे हैं। यह सब द्युलोक शरीरक वैश्वानर आत्मा की उपासना से ही तो इतना वैभव दृष्टि गोचर हो रहा है। आपकी ही बात नहीं है, जो भी कोई साधक इस

सुवेजा वैश्वानर आत्मा की आपके सदृश उपासना करता है, उसकी जठराग्नि तीव्र होती है, वह यथेष्ठ अन्न का भक्षण करता है। वह पुत्र, पौत्र, स्वजन, बन्धु बान्धव रूप प्रियजनों का दर्शन करता है उसके कुल में आपके ही सदृश ब्रह्मतेज होता है। इसलिये यह उपासना निरर्थक तो नहीं है, किन्तु अधूरी है। अच्छा हुआ आप मेरे पास आ गये। यदि आप मेरे पास न आते तो आपका मस्तक गिर जाता।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो बड़ा अन्याय है, कि कि चाहे अधुरी ही सही उपासना तो ऋषि कुमार करते ही थे, यहाँ न आते तो उनका मस्तक गिर जाता। यह क्या बात हुई ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"मुनिवर! यह प्राचीन काल की कथन की शैली है। इसका तात्पर्य इतना ही है, कि तुम यहाँ न आते और अधूरी उपासना को पूरी मानकर करते तो तुम्हें स्वर्ग-लोक की प्राप्ति तो भले ही हो जाती। मस्तक रूप जो मोक्ष है, उससे वञ्चित हो जाते। अर्थात् जन्ममरण के चक्कर में ही पड़े रहते।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, यह तो उचित ही है। अब पूर्ण वैश्वानर आत्मा की उपासना क्या है। इसे भी तो बताना चाहिये।"

सूतजी ने कहा—"सभी छैओं ऋषिकुमारों की उपासना सुन कर तब ये पूर्ण वैश्वानर उपासना का उपदेश करेंगे। पहिले उप-मन्यु तनय प्राचीनशाल से पूछकर तदनन्तर पुलिष ऋषि के पुत्र सत्ययज्ञ से जैसे प्रश्न किया और सत्ययज्ञ ने जैसे अपनी उपा-सना के सम्बन्ध में राजा को बताया इस प्रसंग को मैं आगे

कहूँगा। आशा है आप इसे सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करेंगे। यह प्रसङ्ग बहुत ही महत्वपूर्ण तथा गम्भीर है।"

छप्पय

जब उपमन्यु कुमार उपासन निजहिँ बताई।
तब नृप बोले सत्ययज्ञ तैं—आप हुँ गाई॥
कस उपासना करो देव का महिमा उनिकी।
हे प्राचीन सुयोग्य! उपासन करिहो जिनिकी॥
सत्ययज्ञ ऋषि सुत कहें, भगवन्! भूपति! हौं कहूँ।
पूजूँ हौं आदित्य कूँ, तिनहिँ ध्यान तन्मय रहूँ॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के पंचम अध्याय में
ग्यारहवां खण्ड समाप्त।